मई १९८४

वां वर्ष

राजरत्न राजप्रिय के. माणिकराव

वर्ष ४५
वैदिक धर्म
अंक ५

क्रमांक १८४ : मई १९६४

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

१ मेरा मन शिवसंकल्प करनेवाला हो
(वैदिक प्रार्थना) १४७
२ वेद-व्याख्यान श्री पं. वीरसेन वेदश्रमी १४८
३ वैदिक ऋचाओंकी ओजस्विता
श्री पं. वेदव्रत शर्मा शास्त्री १५३
४ मानव निर्माणकी वैदिक-योजना
श्री दुर्गाशंकर त्रिवेदी १६५
५ प्रचारः परमो धर्मः या आचारः परमो धर्मः?
प्रो. दिलीप वेदालङ्कार १६९
६ प्राचीन गोपालन-व्यवस्था
श्री रवीन्द्र अग्निहोत्री १७१
७ कुछ पास-पास : कुछ दूर-दूर
श्री डा. राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी १७५
८ दयानन्द षोडश-दर्शन कला
श्री गङ्गाप्रसाद वानप्रस्थी १७७
९ संसारपर विजय कौन प्राप्त कर सकता है?
श्री भास्करानन्द शास्त्री १७९
१० वैदिकसमाजवाद श्री विजयकुमार विद्यालङ्कार १८२

संस्कृत-पाठ-माला

(चौबीस भाग)

[संस्कृत-भाषाके अध्ययन करनेका सुगम उपाय]

इस पद्धतिकी विशेषता यह है—

भाग १–३ इनमें संस्कृतके साथ साधारण परिचय करा दिया गया है।

भाग ४ इसमें संधिविचार बताया है।

भाग ५–६ इनमें संस्कृतके साथ विशेष परिचय कराया है।

भाग ७–१० इनमें पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंगी नामोंके रूप बनानेकी विधि बताई है।

भाग ११ इसमें "सर्वनाम" के रूप बताये हैं।

भाग १२ इसमें समासोंका विचार किया है।

भाग १३–१८ इनमें क्रियापद-विचारकी पाठविधि बताई है।

भाग १९–२४ इनमें वेदके साथ परिचय कराया है।

प्रत्येक पुस्तकका मूल्य ॥) और डा. व्य. ≥)
२४ पुस्तकोंका मूल्य १२) और डा. व्य. १॥)

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल,
पो. 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

"वैदिक धर्म"

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.
वी. पी. से रु. ५.६२, विदेशके लिये रु. ६.५०
डाक व्यय अलग रहेगा।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल,
पो.- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. सूरत]

स्वाध्यायमण्डलके वैदिक प्रकाशन

वेदोंकी संहिताएं

'वेद' मानवधर्मके आदि और पवित्र ग्रंथ हैं। हरएक आय धर्मीको अपने संग्रहमें इन पवित्र ग्रंथोंको अवश्य रखना चाहिये।

सूक्ष्म अक्षरोंमें मुद्रित	मूल्य	डा.व्य.
१ ऋग्वेद संहिता	१०)	१)
२ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	२)	.५०
३ सामवेद संहिता	३)	.५०
४ अथर्ववेद संहिता	६)	.७५
बडे अक्षरोंमें मुद्रित		
५ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	४)	.५०
६ सामवेद संहिता	३)	.५०
७ यजुर्वेद काण्व संहिता	५)	.७५
८ यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता	१०)	२)
९ यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	१०)	१.२५
१० यजुर्वेद काठक संहिता	१०)	१.२५

दैवत-संहिता

एक एक देवताके मंत्रोंका अध्ययन करनेसे वेदमंत्रोंके अधिक ज्ञान ठीक तरह तथा शीघ्र हो सकता है। इसलिये ये देवता-मंत्र-संग्रह मुद्रित किये हैं।

१ दैवत संहिता- (प्रथम भाग)

अग्नि-इन्द्र-सोम-मरुद्देवताओंके मंत्रसंग्रह।

(अनेक सूचियोंके समेत एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अग्नि देवता मंत्रसंग्रह	६)	१)
२ इंद्र देवता मंत्रसंग्रह	७)	१)
३ सोम देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
४ मरुद्देवता मंत्रसंग्रह	२)	.५)

२ दैवत संहिता- (द्वितीय भाग)

अश्विनौ-आयुर्वेद प्रकरण-रुद्र-उषा-अदिति-विश्वेदेव।
इन देवताओंके मंत्रसंग्रह।

अनेक सूचियोंके साथ एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अश्विनौ देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
२ आयुर्वेद प्रकरणम् मंत्रसंग्रह	५)	१)
३ रुद्रदेवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
४ उषा देवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
५ अदितिः आदित्याश्च मंत्रसंग्रह	३)	१)
६ विश्वेदेवाः मंत्रसंग्रह	५)	१)

३ दैवत संहिता- (तृतीय भाग)

४ उषा देवता (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
५ अश्विनौ देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
६ मरुद्देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	५)	.७५

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए ऋषियोंके दर्शन।)

१ से १८ ऋषियोंका दर्शन (एक जिल्दमें)	१६)	२)
(पृथक् पृथक् ऋषिदर्शन)		
१ मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन	१)	.२५
२ मेधातिथि ,, ,,	२)	.२५
३ शुनःशेप ,, ,,	१)	.२५
४ हिरण्यस्तूप ,, ,,	१)	.२५
५ काण्व ,, ,,	२)	.२५
६ सव्य ,, ,,	१)	.२५
७ नोधा ,, ,,	१)	.२५
८ पराशर ,, ,,	१)	.२५
९ गोतम ,, ,,	२)	.३७
१० कुत्स ,, ,,	२)	.३७
११ त्रित ,, ,,	१.५०	.३१
१२ संवनन ,, ,,	.५०	.१२
१३ हिरण्यगर्भ ,, ,,	.५०	.१२
१४ नारायण ,, ,,	१)	.२५
१५ बृहस्पति ,, ,,	१)	.२५
१६ वागाम्भृणी ,, ,,	१)	.२५
१७ विश्वकर्मा ,, ,,	१)	.२५
१८ सप्त ऋषि ,, ,,	.५०	.१२
१९ वसिष्ठ ,, ,,	७)	१)
२० भरद्वाज ,, ,,	७)	१.५१

मन्त्री— 'स्वाध्याय मण्डल, पोस्ट— 'स्वाध्याय मण्डल (पारडी)' [जि. सूरत]

ओ३म्   वैशाख : विक्रमी संवत् २०२१

वैदिकधर्म

मेरा मन शिवसंकल्प करनेवाला हो

येन कर्मौण्यपसो मनीषिणो
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजु. ३।२)

(अपसः मनीषिणः) शुभकर्म करनेवाले बुद्धिमान् (यज्ञे) यज्ञमें (धीराः विदथेषु) और धैर्यशाली वीर संग्रामोंमें (येन कर्माणि कृण्वन्ति) जिस मनकी सहायतासे अपने अपने कर्म करते हैं। (यत् अपूर्व) जो विलक्षण और (प्रजानां अन्तः यक्षं) प्रजाओंमें पूज्य है, (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पं अस्तु) शिव संकल्प करनेवाला हो।

मन ही मनुष्यके बंधन और मुक्तिका कारण होता है। इस मनको शक्तिशाली बनाकर मनुष्य बहुत समय तक जीवित रह सकता है। इसलिए दीर्घायु की इच्छा करनेवाले मनुष्योंको सर्वप्रथम अपने मन शुभ संकल्पसे युक्त करने चाहिए। वीरोंके मन यदि शक्तिशाली और निर्भय हों, तो वे शत्रुओंको सहज ही में जीत सकते हैं, इसलिए मनुष्यको चाहिए कि वह अपना मन हमेशा शुभ विचारोंसे युक्त रखे।

ॐ ॐ ॐ
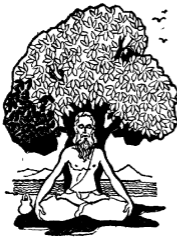
यजुर्वेदके प्रथम अध्यायके द्वितीय अनुवाकके द्वितीय मन्त्र पर विवेचन-

वेद-व्याख्यान

[२]

(लेखक— पं. वीरसेन वेदश्रमी, वेद-सदन, महारानी रोड इन्दौर नगर- २)

★

ऋषिः— परमेष्ठी प्रजापतिः। देवता— सविता।
छन्दः— भूरिग्जगती। स्वरः— निषादः।

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्।
देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः॥ (यजुर्वेद अ. १, मं. ३)

वसोः पवित्रमसि शतधारम्।

यज्ञ अनेक प्रकारसे संसारका पवित्रकर्ता है तथा वह स्वयं भी बहुत प्रकारसे पवित्र है। पूर्व मन्त्रके प्रथम वाक्य द्वारा यज्ञको पवित्र बताया था, अब उस यज्ञकी पवित्रताका विशेष वर्णन इस तृतीय मन्त्रके विविध पदों एवं वाक्योंमें दृष्टिगोचर हो रहा है। यह पवित्र है और पवित्रकारक भी है अतः बहुविध संसारका बहुविधरूपमें पवित्र कर्ता भी है।

इस मन्त्र वाक्यसे ज्ञात हो गया कि यज्ञ संसारका पवित्र करनेवाला है और वह भी एक प्रकारसे नहीं करता, अपितु सैंकडों प्रकारसे पवित्रता करता है, फिर हमें क्या आवश्यकता कि यज्ञको छोडकर पवित्रताके अन्य उपाय सोचें या व्यवहारमें लावें। जब यही सब प्रकारकी पवित्रता हमारे आन्तरिक संसारमें और बाह्य संसारमें करनेमें समर्थ है तो हमें इसका प्रतिदिन अनुष्ठान करना चाहिये और प्रतिदिन इसका अवश्य सेवन करना चाहिये। हमारा आन्तरिक संसार जिसमें शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और आत्मा हैं यह सब एक प्रकारसे नहीं अपितु सैंकडों प्रकारसे पवित्र हो जावेंगे और हमारा बाह्य संसार एवं उसका समस्त व्यवहार सैंकडों प्रकारसे पवित्र हो जायगा। इस प्रकार यज्ञानुष्ठानकर्ता सभी जनोंका धर्मार्थकाममोक्ष सिद्ध हो जायगा।

यदि हम लोग ऐसे परमश्रेष्ठतम कर्मको छोडकर अन्य किसी कर्ममें संलग्न हो जावेंगे तो निःसन्देह हममें अपवित्रता अनेक प्रकारकी आजावेगी। अपवित्रतासे मलोंका संचय होता है। मलोंके संचयसे तम एवं अज्ञानता होती है। अज्ञानतासे अनेक विकर्मोंके पाश हमें जकड लेते हैं। पाशोंके बन्धनोंसे क्लेश एवं दुःखोंका जन्म होता है। इस प्रकार हमारा जीवन दुःखमय हो जाता है। पुनः हम अपने दुःखमय जीवनसे दूसरोंको भी दुःखी बनाते हैं। अतः हम चाहे यज्ञके पवित्र करनेवाले सैंकडों प्रकारोंको जान सकें या न जान सकें, परन्तु यज्ञ तो सैंकडों ज्ञात और अज्ञात प्रकारोंसे विधियोंसे एवं मार्गोंसे पवित्रता सम्पादन करता रहता ही है।

यज्ञ सैंकडों प्रकारसे पवित्रताको विश्वमें निरन्तर करता रहा है अतः पवित्रता यज्ञका परिणाम है- फल है एवं प्रसाद है। पवित्रता रूपी यज्ञके प्रसादसे सर्वत्र प्रसाद ही प्रसाद- आनंद ही आनंदकी अनुभूति होने लगती है। इसलिये हमें भी किसी कार्य या वस्तुकी पवित्रता एक प्रकारसे नहीं

अपितु सैंकडों प्रकारसे या अनेक प्रकारसे करनी चाहिये। एक ही प्रकारसे पवित्र की गई वस्तु या कार्यमें एक ही प्रकारकी पवित्रता हो सकेगी। अतः उसे सर्व प्रकारसे पवित्र बनानेके लिये अनेकों प्रकारसे पवित्र बनाना पडेगा। और उसके साधन भी ढूंढने पडेंगे। तभी वह वस्तु या कार्य परम पवित्र अर्थात् श्रेष्ठतम हो सकेगा।

हमें भी अपने अन्दर पवित्रता स्थापित करनी है। एक प्रकारकी पवित्रताके कर्मसे ही हम पवित्र नहीं हो सकेंगे। यदि हमने जलसे स्नान करने मात्रसे मान लिया कि सर्व प्रकारकी पवित्रता हो गई, तो हम निःसन्देह अपवित्र ही बने रहेंगे। जलसे तो केवल शरीरके कतिपय बाह्य मलोंका ही शोधन होता है। शरीरके अनेकविध मलोंके शोधनके लिये अनेक प्रकारके जलोंका प्रयोग करना पडेगा। शरीरके जिन मलोंका जलोंसे शोधन नहीं हो सकता, उनके लिये अन्य पदार्थोंका उपयोग लेना होगा। परन्तु केवल शरीरकी ही पवित्रतासे हमारी पवित्रता नहीं होगी। प्राणोंकी भी पवित्रता सम्पादन करनी होगी। प्राणोंकी पवित्रताके लिये अनेक प्रकारके प्राणायामोंकी साधना करनी होगी।

प्राणोंकी पवित्रतासे शरीर और भी पवित्र होगा। इन्द्रियोंके विकाररूपी मल तो जलसे नहीं स्वच्छ होंगे। वे तो प्राणायामसे ही हटेंगे तभी इन्द्रियाँ निर्मल होंगी। इन्द्रियोंकी निर्मलतासे मनकी वृत्तियाँ भी शुद्ध सात्विक होंगी। शरीर और प्राणोंकी पवित्रताके अतिरिक्त अन्तः करणको भी अनेक प्रकारके साधनोंसे तथा ज्ञान, कर्म, उपासनाके निरन्तर बार बार अभ्याससे पवित्र करना पडेगा। तभी हम अपनेको अनेक प्रकारसे पवित्र कर सकेंगे। पवित्रताकी अनेकताओंसे अनेक साधनोंकी साधनाओंमें निमग्न होनेपर भी हमारी पवित्रताकी पूर्ति बिना यज्ञके कदापि पूर्णताको प्राप्त नहीं हो सकती। अतः हमें यज्ञोंका अनुष्ठान करना होगा। तभी हम अपनेको अनेक प्रकारसे पवित्र कर सकेंगे और उससे हमारी अनेक प्रकारकी पवित्रता विश्वमें यज्ञरूप होकर अनेक प्रकारसे, सैंकडों प्रकारसे पवित्रताकी जनक होगी। अतः—

'वसोः पवित्रमसि शतधारम्' की साधना अवश्य करनी चाहिये।

वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्।

पूर्व मन्त्रवाक्यने यज्ञको सैंकडों प्रकारसे पवित्रता सम्पादन करनेवाला बताया था, परन्तु यह मन्त्र वाक्य तो हमें और भी यज्ञकी विशाल पवित्रताकी ओर अग्रसर करनेके लिये कह रहा है कि यह यज्ञ पवित्र है— वह सैंकडों प्रकारसे पवित्र होते हुए भी वह और भी हजारों प्रकारसे पवित्र है। उसकी पवित्रताके प्रकारोंका अन्त नहीं है। वह सैंकडों और सहस्रों प्रकारसे अनेक प्रकारके ब्रह्माण्डोंका पवित्र करनेवाला है। पवित्रकर्ता होनेसे उनका धारणकर्ता भी है। धारणकर्ता होनेसे सुखदाता भी है। इसलिये ऐसे पवित्र यज्ञको धारण करनेसे हम भी परम पवित्र बन सकेंगे और प्राणदाता भी बन सकेंगे। न जाने कितने समयसे कितने प्रकारकी अपवित्रतायें हमारे अन्दर संचित हो रही हैं और विश्वमें भी संचित तथा उत्पन्न हो रही हैं। परन्तु उनका हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है। ज्ञात ही शत है और अज्ञात ही सहस्र है। परिमित ज्ञान है और अपरिमित ही सहस्र है। अतः ज्ञात और अज्ञात, परिमित और अपरिमित पवित्रताओंका सम्पादक यज्ञ है। इससे बढकर और कौन श्रेष्ठ हो सकता है? अतः यज्ञको श्रेष्ठतम कहा जाना पूर्ण संगत है।

जो स्वयं सैंकडों और सहस्रों प्रकारसे पवित्र है और सबका पवित्रकर्ता भी है उसमें यदि किंचित् विकार या दोष आ जावे, तो न जाने पवित्रता कर्ममें कितनी बाधा पड जावे और पवित्रतामें बाधा पड जानेसे न जाने कितनी प्रकारकी अपवित्रताओंकी वृद्धि होजावे। इससे ज्ञान होता है कि विश्वमें सहस्रों प्रकारसे यज्ञ व्याप्त होता है और असंख्य प्रकारसे ही हम सबका उपकार करता है। उस यज्ञका यदि सम्यक् रीतिसे अनुष्ठान न हो या उस यज्ञमें कहीं त्रुटि रह जावे या विश्वके किसी भागमें सविता देवकी यज्ञ क्रियाका लोप होजावे या वह यज्ञध्वंस हो जावे तो यज्ञसे होनेवाले पवित्रता व्यापारके अभावमें अपवित्रताके प्रसारसे जो अपकार या अनिष्ट अथवा हानियां होंगी, वे भी सैंकडों और सहस्रों ही होंगी और परिणामतः सैंकडों तथा सहस्रों प्रकार के पाश यज्ञके सर्वत्र व्याप्त हो जावेंगे।

यज्ञके अभावमें सैंकडों प्रकारके पाशोंसे हमारा और विश्वका बन्धन होजाता है। अनेक प्रकारके रोग, शोक, दुःख, आपत्तियां, प्रतिकूलतायें, अवर्षणकाल, ईति और भीति रूपमें कष्टदायक होने लगती हैं। हम उन कष्टोंके जालोंमें फंस जाते हैं और कष्टोंके निवारणका प्रयत्न करते हैं। परन्तु एक कष्टको जब निवारण करनेमें सफल होते हैं तो दूसरा कष्ट उससे विकराल रूपमें हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। क्या इन सब कष्टोंसे मुक्ति होसकती है? क्या

ये सब प्रतिकूलतायें अनुकूलतामें परिणत होसकती हैं ? वेद इसके लिये उत्तर देता है कि जीवनको यज्ञमय बनाओ, विश्वको यज्ञसे पवित्र एवं पुष्ट करो— परमपवित्र करो। आध्यात्मिक और आधिभौतिक यज्ञोंका अनुष्ठान पंचमहायज्ञोंके रूपमें प्रतिदिन करो। यज्ञका विधिवत् श्रद्धा एवं प्रेमसे सेवन करो। इससे सम्पूर्ण पाशोंसे मुक्ति होगी।

यदि हम अपने चारों ओर फैले हुए यज्ञियपाशोंको और उनके कारणोंको जाननेका प्रयत्न करें और उन पाशोंसे मुक्त होनेका प्रयास करें तो हमें विश्वके प्रत्येक पदार्थके गुण एवं उपयोगकी विधिका ज्ञान होने लगेगा और हमसे भी दिव्य यज्ञसम्पन्न होने लगेंगे। सवितादेवके यज्ञोंकी विधियोंके ज्ञानसे हमारे यज्ञ भी विधिवत् होने लगेंगे। सवितादेवके यज्ञसे समस्त विश्व सहस्त्रों प्रकारसे पवित्र होता है और हमारे द्वारा रचे हुए यज्ञोंसे हमारा अध्यात्ममण्डल पवित्र होगा। दोनोंकी सहस्त्रों प्रकारकी पवित्रताओंसे अपरिमित प्रकारकी पवित्रताकी व्यापकता होजावेगी। पवित्रताके वातावरणमें प्राणिमात्रका जीवन व्यतीत होने लगेगा और अपवित्रताके अभावमें ज्ञानका उदय होने लगेगा। ज्ञानकी ज्योतिके समिद्ध होनेपर फिर उससे पवित्र और क्या होगा? ज्ञान परमपवित्र है। उसकी प्राप्तिसे बन्धोंकी निवृत्ति और मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः यज्ञ विश्वमें अनेक प्रकारकी छोटीसे छोटी, सूक्ष्मसे सूक्ष्म और बडीसे बडी ज्ञान और अज्ञान परिमित और अपरिमित, सैंकडों और सहस्त्रों प्रकारकी पवित्रताओंको साधन करता हुआ बहुत प्रकारसे ब्रह्माण्डोंका धारण एवं पोषण करता हुआ—

वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्।

मन्त्रवाक्यको सार्थक कर रहा है।

देवस्त्वा सविता पुनातु।

उस परमपवित्र यज्ञको जो सब ओरसे सहस्त्रों प्रकारसे पवित्रकर्ता है उसका भी पवित्रकर्ता सवितादेव— परमात्मा है। अर्थात् सवितादेव परमपवित्र है। परमपवित्रकर्ता है। जो भी सर्वाधिक पवित्रकर्ता परमात्माके अतिरिक्त अन्य कोई हमें दृष्टिगोचर होता है उसके भी आप ही पवित्रकर्ता हैं। अतः उस यज्ञको जिसका हम अनुष्ठान करें उसको सवितादेव-परमात्मा-अवश्य पवित्र करें।

यदि सवितादेव उस यज्ञको पवित्र नहीं करेंगे तो यज्ञ 'शतधारम्' और 'सहस्रधारम्'—अर्थात् संसारका, अनेकविध ब्रह्माण्डका कैसे धारणकर्ता बन सकेगा? इसलिये यज्ञके साथ पवित्रताओंके मूल सवितादेवका हम प्रथम स्मरण करते हैं। आधिभौतिक पक्षमें जब सविताका उदय होता है, तो उदयके साथ ही हम अपने भौतिक यज्ञको प्रारंभ करते हैं। उस सवितादेव—परमात्माकी स्तुति प्रार्थनोपासना करके उसका अपने हृदयमें ध्यान करते हैं और उस व्यापक, वरेण्य, सवितादेवसे प्रार्थना करते हैं कि वह अपनी व्याप्तिसे एवं अपने भर्गसे, हमें पवित्र करें, हमारे यज्ञको पवित्र करें तथा सृष्टि यज्ञोंको भी पवित्र करें।

यज्ञके सैंकडों और सहस्त्रों प्रकारसे पवित्र होनेके पश्चात् ही जब सवितादेव अपनी पवित्रतासे उसे और भी पवित्र कर देंगे तो वह यज्ञ न जाने और भी कितना पवित्र हो जायगा। हमारे यज्ञमें सवितादेवकी उपस्थितिसे, हमारे हृदयमें उसका प्रकाश होनेसे हमारी सब प्रकारकी पवित्रतायें होजाती हैं। यज्ञमें उसी देवकी वेदवाणीका प्रयोग करके तथा उसीके अनुसार कर्म करनेसे हमारे समस्त कर्म एवं व्यवहार पवित्र होजाते हैं। इस प्रकार यज्ञको अंगीकार करनेसे जन्मकी सफलता और उसके द्वारा दिव्यकर्मोंकी साधनासे देवत्व प्रकट होने लगता है। परन्तु वह सब देवत्व वास्तवमें सविताका ही हमारे माध्यमसे होता है।

सवितादेवसे सब ओरसे पवित्र हुआ वह यज्ञ समस्त संसारको अनेक प्रकारसे धारण करनेवाला तथा सुखदाता होजाता है। यदि सवितादेव यज्ञको पवित्र न करें तो हमारे सारे पवित्रताके पुरुषार्थ निष्फल होजावेंगे। सवितादेव ही सब अग्नि, वायु, पृथिवी आदि आठ वसुओंके उत्पन्न करनेवाले हैं अतः सविताका मातृत्व समस्त जगत्के प्रति है। माताकी शक्ति समस्त पदार्थोंमें व्याप्त है और उसीके रससे बल एवं सामर्थ्य समस्त विश्वको प्राप्त होरहा है।

इसलिये सर्व प्रकारके यज्ञोंमें सवितादेवकी प्रार्थना, उपासक आवश्यक है। उसके द्वारा सम्पन्न की गई पवित्रता, मूलस्रोतयुक्त होनेसे नैसर्गिक पवित्रताका कारण होजाती है। नैसर्गिकता ही पदार्थका धर्म कहा जाता है। वही उसका गुण एवं स्वभाव होता है। अतः पवित्रकर्ता यज्ञको जब सवितादेवकी भी पवित्रता प्राप्त होजाती है तो वह उसके प्रत्येक अंशमें व्याप्त होकर अक्षुण्ण बनी रहती है जिससे यज्ञका धर्म पवित्रकर्ता-सदा, सर्वत्र बन जाता है। इस लिये पवित्र यज्ञको—

देवस्त्वा सविता पुनातु—

के आदेशसे उसकी उपासना वेद मन्त्रोंके द्वारा यज्ञमें करके पवित्र करनेका प्रयत्न अवश्य करें।

वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा।

वह पवित्र यज्ञ संसारकी पवित्रताका निमित्त होनेसे समस्त संसारका धारण करता है। वह यज्ञ वेदवाणीके द्वारा पवित्रताका कारण बनकर भी समस्त संसारको पवित्र करता हुआ संसारका अनेक प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला है। वह पवित्र यज्ञ वेदके विज्ञानरूपी कर्मों द्वारा अत्यन्त पवित्र होता हुआ समस्त ब्रह्माण्डका धारक, पोषक एवं पवित्रकर्ता भी है।

वह यज्ञ जब वेदकी वाणी एवं उसके विज्ञान कर्मसे पवित्रकर्ता होजाता है तो वह परब्रह्मकी पवित्रतासे युक्त होजाता है। उत्कृष्ट स्थानोंसे, उत्कृष्ट प्रकारोंसे वह परब्रह्मके तेजसे संयुक्त होजाता है। अतः यज्ञ उपास्य है तथा उपासनाका साधन भी है। उस यज्ञरूपी प्रभुको हम नमस्कार करते हैं और उसको स्वाहा कहकर सर्वस्व समर्पण भी करते हैं।

यज्ञका अनुष्ठान करके हम भी पवित्र हो जावेंगे और वेदवाणीको धारण करके परमात्माकी पवित्रतासे हम भी अपनेमें दिव्य पवित्रताको धारण कर सकेंगे तथा वेदके विज्ञान युक्त कर्मोंसे, यज्ञोंको करके अपने विज्ञानमय कोशको दिव्य तेजसे सम्पन्न कर सकेंगे। इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्डकी पवित्रता यज्ञके द्वारा हो जाती है। उसकी पवित्रतासे धारणा एवं पोषण करनेकी शक्ति विश्वमें अप्रतिहत रूपसे सतेज होकर कार्य करने लगती है।

अपवित्रतासे विनाशक या संहारक तत्वोंकी वृद्धि होती है और संसार क्लेश एवं दुःखोंसे परिपूर्ण होने लगता है। अपवित्रताओंसे मलोंकी वृद्धि होती है। मलोंसे अज्ञानकी वृद्धि होती है। अज्ञानसे तमकी वृद्धि होती है। तमकी वृद्धिसे दर्शन शक्तिका अभाव हो जाता है। दर्शन शक्तिके अभावमें गतिका अवरोध हो जाता है। गतिका अवरोध अगति है। अगति ही जडताकी जड है। अतः अपने अन्दर और बाहरके मलोंके आवरणोंको तथा अज्ञान एवं जडताके पाशोंसे मुक्त होनेके लिये और पवित्रताके प्रकाशमें निवास करके उन्नतिकी ओर अग्रसर होते हुए आनन्द स्वरूप परमात्माको प्राप्त करनेके लिये यज्ञके मार्गका अनुसरण करें। उस यज्ञको पवित्र बनानेके लिये सवितादेव तथा उसकी पवित्र वेदवाणी एवं उसके ज्ञान विज्ञान युक्त कर्मोंको हम धारण करें।

मन्त्रका 'सुप्वा' शब्द उस यज्ञकी पवित्रताकी महानता एवं उसकी उत्तम क्रियाशीलताको प्रकट करता है कि वह यज्ञ किसी न्यून क्रियासे नहीं, किसी सहायक क्रिया द्वारा गौणवृत्तिसे नहीं अपितु मुख्य रूपसे, पूर्ण रूपसे और परिपूर्ण उत्तम रूपसे, निश्चय रूपसे पवित्र करनेवाला है अतः—

वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा।

इस वाक्यको हृदयंगम करें। इसके आशयको हृदयंगम करें कि वह यज्ञ पवित्रताके हेतुसे, वेद विज्ञान युक्त कर्मोंसे, बहुत प्रकारके धारक गुणोंसे परमेश्वर एवं वेदवाणी द्वारा अच्छे प्रकार पवित्र करता है तथा अच्छी प्रकारसे पवित्रताका हेतु भी है।

कामधुक्षः ?

यज्ञसे कामनाओंकी पूर्ति होती है। जीवनकी विविध आशाओंका—कामनाओंका दोहन यज्ञसे होता है। उन कामनाओंके दोहनके लिये कामनानुसार वेदमन्त्रोंका चयन करना चाहिये। किस मन्त्रसे किस कामनाका दोहन या प्राप्ति हो सकती है। इसका ज्ञान वेद मन्त्रोंके अर्थोंपर गंभीर चिन्तनसे ज्ञात हो सकेगा। तदनुसार उन मन्त्रोंका यज्ञमें प्रयोग कर्मकाण्डमय करना होगा। तभी उससे अभीष्ट फलोंकी प्राप्ति हो सकेगी। इसीलिये वेदके मन्त्रमें प्रश्न किया गया है कि 'कामधुक्षः' यज्ञमें प्रयुक्त की गई वेदकी श्रेष्ठ वाणियोंमेंसे किस कामनाके दोहनकी कामना करते हो?

यज्ञसे कामनाकी पूर्तिके लिये वेदवाणी परम सहायक है। अतः वेदवाणीको जितनी उत्तमता एवं पवित्रतासे धारण करके उसका यथोचित प्रयोग करेंगे, उतनी ही पूर्णतासे कामनाकी सिद्धि होगी। वेदको धारण करनेके लिये हमें अपनी भी पवित्रता करनी होगी। जबतक हम पवित्र नहीं हो पाते तबतक हम वेदको कैसे धारण कर सकेंगे? शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि एवं इसके समस्त व्यापारको शुद्ध करना होगा।

यदि हम पवित्र होकर भी वेदको अपवित्र या अशुद्ध करके प्रयुक्त करेंगे तो कामनाओंका दोहन नहीं हो सकेगा। अतः यज्ञमें वेदमन्त्रोंका उच्चारण या प्रयोग अत्यन्त शुद्ध रूपसे ही करना होगा। वाणीके अन्यथा प्रयोगसे विपरीत

अर्थ निष्पन्न होने लगते हैं और हमारी अज्ञानतासे, वेद-मन्त्रोंके अशुद्ध उच्चारणसे अनर्थ- अमंगल भी हो जायगा।

परमात्माकी वेदवाणी परम पवित्र है। उसके एक-एक अक्षरमें महान् अर्थ भरा हुआ है। उसके एक-एक अक्षरमें महान् रहस्य छिपा हुआ है। उसके एक-एक स्वरमें महान रस एवं संगीत भरा हुआ है। उसकी रचनामें महान् शक्ति निहित है। वह परमात्माका सबसे महत्व पूर्ण दिव्यकोश है। वह परमात्माका उत्कृष्ट ज्ञान है। वह उस ब्रह्मका महान् धन है।

उन वेद मन्त्रोंमें परमात्माकी तेजस्विता प्रकट हो रही है। यदि हम उन मन्त्रोंको अशुद्ध बोलेंगे तो उनकी तेजस्विताका दर्शन नहीं हो सकेगा। यदि हम मन्त्रको स्वर रहित या अशुद्ध स्वरोंमें उच्चारित करेंगे तो मन्त्रके रसका आस्वादन नहीं कर सकेंगे, जिससे वेदवाणी द्वारा यथार्थ लाभ नहीं हो सकेगा। अतः यज्ञ द्वारा वेदवाणीसे सब प्रकारकी कामनाओंका दोहन करनेके लिये हमें- ' कामधुक्षः ? ' प्रश्नका उत्तर अपने जीवनमें कामनाओंकी पूर्तिके लिये अनेक प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करके देना होगा।

' इति द्वितीयानुवाकस्य द्वितीय मन्त्रस्य वेदव्याख्यानम् '

गीता -- पुरुषार्थबोधिनी

[लेखक-- श्री पं. श्री. दा. सातवलेकर]

' मैंने श्री पं. सातवलेकरजी की लिखी हुई श्रीमद्भगवद्गीता पर ' पुरुषार्थ-बोधिनी ' टीका पढी और मैं उससे अत्यन्त प्रभावित हुआ। यह टीका पढकर मैं समझ सका कि गीता केवल आध्यात्मग्रंथ ही नहीं है, अपितु वह इस लोकको बनानेवाला ग्रंथ भी है। वह संसार छोडकर और वीतराग बनकर जंगलमें जानेका उपदेश नहीं देती, अपितु संसारमें ही रहकर पग-पग पर आनेवाले संकटोंसे किस प्रकार टक्कर ली जाए, इसका मार्ग बताती है। मेरी यह निश्चित धारणा है कि यह प्रत्येक संस्था व कालेजोंके द्वारा एक संग्रह करने योग्य ग्रंथ है। '

—महात्मागांधी

' यह गीता पर एक अनोखी टीका है, जिसने गीताके एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर, जो आजतक विद्वानोंकी दृष्टिसे ओझल था, भरपूर प्रकाश डाला है। मुझे यह पढकर अत्यन्त आनन्द हुआ। मुझे आशा है कि पाठक इसे हृदयसे अपनायेंगे। '

—चिं. द्वा. देशमुख, उपकुलपति- दिल्ली विश्वविद्यालय

यह टीका अपने ढंगकी एक ही है। जिस किसीने भी इसे पढा, मुक्तकण्ठसे इसे सराहा। सभी उच्च कोटीके विद्वानोंने इसकी बडी प्रशंसा की। इसकी मांग अत्यधिक है, अतः पाठकोंके आग्रह पर हमें इसकी चौथी आवृत्ति निकालनी पडी। यह ग्रंथ हिन्दी, मराठी और अंग्रेजी तीन भाषाओंमें मिल सकती है, आप भी शीघ्रता कीजिए। शिक्षण-संस्थाओं तथा अन्य संस्थाओंको तथा व्यापारियोंको भी उचित कमीशन पर ये पुस्तकें मिल सकेंगी।

पृष्ठ संख्या ८५०] [मूल्य २०) रुपये (डा. व्य. पृथक्)

पुस्तक तथा विस्तृत सूचीपत्रके लिए लिखें—

व्यवस्थापक- ' स्वाध्याय मण्डल, पोस्ट- ' स्वाध्याय मण्डल (पारडी),' पारडी [जि. सूरत] (गुजरात)

वैदिक ऋचाओंकी ओजस्विता

(लेखक— श्री पं. वेदव्रत शर्मा, शास्त्री)

[गताङ्कसे आगे]

वर्ण-व्यवस्था तथा आश्रम-व्यवस्था पर प्रथम ही पर्याप्त विचार किया गया है। अतः पुनः इन विषयोंपर लिखना पुनरुक्ति ही होगी। परन्तु इन विषयोंपर जनता द्वारा किये साधक-बाधक विचारों पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है।

लोग कहते हैं कि आश्रम-व्यवस्था इस विज्ञानके युगमें व्यर्थ है, क्योंकि ब्रह्मचर्यादि अमनोवैज्ञानिक हैं। इस भौतिक-युगमें सुख-भोगसे मुख मोडना मूर्खता है। इस प्रकार तर्क करनेवाले प्रथम तो आश्रम-व्यवस्थाको गहराई तक समझते ही नहीं, केवल उसके विकृत रूपको देखकर ही कोरा तर्क करते हैं। संसार प्रत्येक कार्यका पुरोगम प्रथम ही बनाता है, बिना पुरोगमके कोई भी कार्य समुचितरूपसे नहीं किया जा सकता। इस प्रकार मनुष्यके जीवनका पुरोगम धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्ति है। इनको एक साथ ही नहीं प्राप्त किया जा सकता। इनके सम्पादनमें क्रम और समयका निर्धारण तो करना ही होगा। इस प्रकार सौ वर्षकी औसत आयुको चार भागोंमें विभक्त कर दिया गया था। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्तिके लिये ही ये चार विभाग किये गये हैं। इनकी प्राप्तिके लिये उचित स्थानों और पृथक् पृथक् समयकी आवश्यकता होती है। यही आश्रम-व्यवस्था है। ब्रह्मचर्य अमनोवैज्ञानिक है, इसके समाधानके लिये पूज्य गांधीजीकी, स्वामी विवेकानन्दजीकी तथा स्वामी दयानन्दजीकी जीवनियाँ पढिये, तो सभी शंकायें निर्मूल हो जायेंगी।

इसी प्रकार वर्ण-व्यवस्थापर भी शंकायें की जा रही हैं। वास्तवमें ये शंकायें यथार्थ ही हैं। इन शंकाओंके उत्पन्न होनेका कारण भी विकृत-वर्ण-व्यवस्था ही है। लोग वर्ण और जातिको एक ही समझने लगे। वास्तवमें मानव-जाति विश्वमें एक है। ज्ञातिके उच्चारणकी असमर्थतासे लोग जाति कहने लगे। ज्ञातिमें अपने कुटुम्ब और सम्बन्धी गण आते हैं। वर्णको जाति मानकर इसकी व्यवस्था जन्मसे की गई। जन्मसे लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मानने लगे। वास्तवमें मनुने स्पष्ट कहा है " कि सब जन्मसे शूद्र होते हैं। जब उनके संस्कार होते हैं, तब उन्हें द्विज कहते हैं।" जब वे ज्ञान प्राप्त करते हैं तो उन्हें विप्र कहते हैं। जब आत्म-ज्ञान प्राप्त करते हैं तो ब्राह्मण कहलाते हैं। आजकल लोग इन शब्दोंसे चिढते हैं, क्योंकि इसका विकृतरूप ही उनके सामने है। शब्दसे भले चिढें; परन्तु कर्मसे चिढकर कहाँ जायेंगे। शूद्र शब्दके बजाय ' हरिजन ' कहें, इससे क्या होता है। शूद्र शब्दका अर्थ शोक करनेवाला; जिसकी बुद्धिका विकास सर्वसाधन प्राप्त करते हुये भी नहीं होता उसे शूद्र कहते हैं। बच्चा जब पैदा होता है तो उसकी बुद्धि अविकसित होती है। और उसका जैसे जैसे शारीरिक विकास होता जाता है वैसे ही उसकी बुद्धि भी विकसित होती जाती है और उसका शूद्र-पन भी समाप्त हो जाता है। कुण्ठित और तामसी बुद्धिवाला ही शूद्र होता है। अज्ञानके कारण पद पद पर उसे शोकका शिकार होना पडता है। जन्मसे न कोई ब्राह्मण होता है और न कोई क्षत्रिय।

मानव सामाजिक उत्तरदायित्व वहन करे, यह उसका कर्तव्य है। ब्रह्मचर्याश्रम ही (छात्र-जीवन ही) सामाजिक कर्तव्यके वहन करनेकी क्षमता प्रदान करता है। मनुष्यको अपने प्रति क्या करना चाहिए, समाज तथा राष्ट्रके प्रति क्या करना चाहिए इन सब बातोंकी क्षमता ब्रह्मचर्याश्रम ही प्रदान करता है। इन उत्तरदायित्वोंको वहन करता हुआ ही नागरिक अधिकारोंका अधिकारी होता है। स्नातक होनेके पश्चात् शिक्षा, रक्षा, उत्पादक और श्रम इन कर्तव्योंमेंसे किसी एक कर्तव्यको अङ्गीकार करे। इसके ग्रहणके लिये गुण, कर्म, स्वभाव तीनोंका सहयोग होना चाहिए। स्वभावका अभिप्राय उस उत्तरदायित्वके सम्पादनमें अभिरुचि और स्वयंकी प्रकृति, गुणका अर्थ निपुणता या कुशलता है, कर्मका अर्थ उस उत्तरदायित्वको कार्य रूपमें लाना ही है।

इन उत्तरदायित्वोंको जो नहीं स्वीकार करता, उसे वर्णोंसे इतर समझा जाता है। उसे नागरिकताके अधिकार नहीं

मिलने चाहिए। प्रथम कर्तव्य और तब अधिकार प्राप्त होता है। भारतीयसंस्कृतिमें यह व्यवस्था समाज तथा राष्ट्रकी स्थितिके लिए मेरुदण्डका काम करती है। इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये सारी शिक्षण संस्थाओंको नालन्दा और तक्षशिला यानी गुरुकुलोंका रूप देना होगा। शिक्षाको अनिवार्य करके सबके लिए पांच वर्षसे लेकर २५ वर्षकी आयुतक शिक्षण और ट्रेनिङ्गकी अवधि रखी जावे। इससे पहले शादी करनेकी अनुमति न दी जावे। स्नातकोत्तर दीक्षा-संस्कारके बाद राष्ट्रसे जीविका प्राप्त करके अपने घर जाकर अपनी ज्ञातिमें शादी करें।

आस्तिकता

भारतीय संस्कृतिकी आधार-शिला आस्तिकता ही है। आत्मा, परमात्मा, भाग्य और पुनर्जन्म पर विश्वास करना ही आस्तिकता है। इन पर न विश्वास करना नास्तिकता है। इस पर डॉ० मुंशीराम शर्मा अपनी 'आर्य-संस्कृति' में कहते हैं—

'आस्तिक-भावने आर्य-संस्कृतिको प्रकृतिकी प्राण-शून्यतासे हटाकर सप्राण बनाया है, उसे बल दिया है और उदात्त आदर्शसे समन्वित किया है। हमारी आखें यहीं नहीं रहकर उस आदर्शकी ओर लगी रहती हैं, जहाँ हमें अन्तमें पहुंचना है, जहाँ हमारी जीवन-यात्राकी सीमा है, जो हमारा वास्तविक घर है। आर्य-संस्कृति (यानी भारतीय-संस्कृति) इस धनसे अपनेको धनी समझती है।"

आगे चलकर आपने पुनर्जन्मपर भी अनुपम प्रकाश डाला है। जैसा कि आप लिखते है।

'इस जीवनसे पूर्व भी हमारा जीवन था और इसके बाद भी रहेगा। जीवन शृंखलामय है। इसमें अनन्त कड़ियाँ हैं। ये कड़ियाँ कर्मवादसे सम्बन्धित हैं। हम न जाने कबसे कर्म करते चले आ रहे हैं और न जाने कबतक करते चले जायेंगे। इस शृङ्खलाका अन्त तभी होगा, जब हम प्रकृतिके उत्तम, मध्यम और अधम अर्थात् सत्, रज और तम, तीनोंसे परे हो सकेंगे। हमारा वर्तमान जीवन कर्म-शृंखला-की एक कड़ी है। उस पर (जीवात्मा) और अपर (परमात्मा) के दर्शनसे ही ये कड़ियाँ कट सकती हैं। अतः कर्म-वाद और पुनर्जन्मका सीधा सम्बन्ध आस्तिक-वादसे है।'

यें पक्तियाँ मानवात्माको आकर्षित करती हुई एक सुन्दर रहस्यका उद्घाटन करती हैं।

आत्मानं विजानीहि

'अपनेको समझो'। क्योंकि अपनेको समझ कर ही अन्य वस्तुयें समझी जा सकती हैं। इसलिये पूज्य बापूजी अपनी प्रार्थनामें नित्य कहा करते थे कि, 'न चाहं भूत-संघः'। मैं पाञ्च-भौतिक नहीं हूँ। जैसा कि आजके अर्ध-वैज्ञानिक अपनेको भौतिक मानते या कहते हैं कि मैं इस विषयमें कुछ नहीं जानता। इस ज्ञानके लिये मृत्यु और जन्मके कारणोंपर गूढतम विचार करना होगा। इन विचारोंकी सहायताके लिए सत्-सङ्ग और सन्त-साहित्य पढना पडेगा। मनन और शुद्धाचरण नितान्त कर्तव्य होंगे। ब्रह्मचर्य और यौगिक साधनोंकी भी सहायता लेनी पडेगी। उत्पत्ति और मृत्युकी गुत्थी सुलझानेमें भी आत्मबोध हो सकता है। क्रान्तकारियोंकी तथा सन्त, महात्माओं (गांधी, विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द) की जीवनियाँ भी प्रकाश-स्तम्भका कार्य करेंगी।

शहरों में सैर कर लूँ सहरामें खाक उडा लूँ।
तुझको भी खोज लूँगा अपनेको पहले पा लूँ॥

अर्थात् भोग विलासको त्याग करके वैराग्यका जीवन बिताकर अपनेको पहचान लूँ, तो हे प्रभो! आपको पहचान लूँगा।

इस प्रकार आत्म-ज्ञानके पश्चात् सत्य, अहिंसा, त्याग और सेवाका व्रत धारण करना मानव-मात्रका कर्तव्य होता है। भारतीय संस्कृतिका भव्य-भवन इन्हीं चार स्तम्भोंपर आधारित है।

My heart is the hall in which the members of my society sit. Whom and how far can I accommodate in this hall?

—श्री गङ्गाप्रसाद उपाध्याय

मानव-हृदयको विशाल विस्तृत बनाना पडेगा। भारतीय-संस्कृति मानव-हृदयको विशाल बनाती है। अपने और परायेकी तंगदिली उदारता द्वारा मिटाती है। उदारता स्वको विशाल बनाती है और संसारको कुटुम्बमें बदल देती है। यही है भारतीयता।

The best culture is that which contributes to the fullest growth of man without handicaps or wastage.

भारतीय-संस्कृति मानवमात्रका पूर्ण विकास करती है। और विकासमें बाधक-तत्वोंका निराकरण करती रहती है।

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य
रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।

O peace-giving God, may we be the preservers of the uninterrupted strength giving and enriching gift. This is the formost all bounteous culture, O adorable, well-wisher of all.

Vedic culture, page 17.

संस्कृति और सभ्यता

'भया सह विद्यते या सा सभा, सभायां भवः सभ्यः, तस्य भवः सभ्यता' 'भा' अर्थात् ज्ञान-ज्योतिसे युक्त मानव-समूहको सभा कहते हैं। इस सभामें जो रहने योग्य है वह सभ्य कहलाता है। सभ्य शब्दको जब हम भाव-वाचक-संज्ञामें बदलते हैं, तो सभ्यता शब्द सिद्ध होता है। सभ्य ही सभाकी शोभा है। सभ्य सभी की मर्यादाकी रक्षा कर सकता है। जहां एक मनुष्य दूसरे मनुष्योंकी न्यूनताकी पूर्ति करता है तथा अपनी न्यूनताकी पूर्ति दूसरों द्वारा करता है, वह स्थान सभाका होता है। जैसे दीपावलियां एक दूसरे दीपकके नीचेके अन्धकारको दूर करती हैं, उसी प्रकार सभासद् दूसरेकी न्यूनतायें मिटाता है। संस्कृतमें एक सुभाषित है—

न सा सभा यत्र न भाति कश्चित्,
न सा सभा यत्र विभाति चैकः।
सभा तु सैवास्ति यथार्थरूपा,
परस्परं यत्र विभान्ति सर्वे॥

"वह सभा नहीं है जहां किसीके गुणोंका विकास नहीं होता, हम उसे भी सभा नहीं कह सकते, जहां मनुष्य अकेला ही प्रकाशित होता है। वास्तवमें सभा वही है जहां आपसमें सब अपने अपने गुणोंसे प्रकाशित होते हैं। और जहां एक दूसरेके प्रकाशसे आपसमें लोग प्रकाशित हों।"

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः,
वृद्धाः न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
धर्मो न सः यत्र च नास्ति सत्यं,
न तत् सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्॥

"वह सभा नहीं जहां वृद्ध नहीं हैं। वे वृद्ध नहीं, जो धर्मकी बात नहीं कहते। वह धर्म नहीं जिसमें सत्यका अभाव है। वह सत्य नहीं, जिसमें छल भरा हुआ है।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो
यत्र धीराः मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

ऋ. १०।७१।२

जहां पर लोग सात्विक-बुद्धिकी चलनीसे वाणीको सक्तु (सतुआ) के समान छान कर बोलते हैं। वहां लोग अपने मित्रोंकी मित्रताको जानते हैं। उनकी वाणीमें कल्याण-लक्ष्मी निवास करती है।

सभ्यता देश-कालकी गतिविधिके साथ बदलती रहता है। परन्तु संस्कृति देश-कालकी परिस्थितिसे परे है। एक समय था जबकि भारत पराधीनताकी बेडीमें जकडा था। भारतको स्वतंत्र राष्ट्रका गौरव प्राप्त नहीं था, उस समय काले गुलाम भारतीय असभ्य माने जाते थे। ईसाई जाति ही सभ्यताकी कसौटी पर खरी उतरती थी। परन्तु आजकी गतिविधि दूसरी है। सभ्यताकी कसौटी बदल गई। भारत-की स्वतंत्रताका अदृष्टि-गत प्रभाव संसार पर पडा है। अब हम भी मनुष्य और सभ्य समझे जाने लगे। सम्प्रति समाजमें कुशलतासे रहना या चतुरता ही सभ्यता है। सभ्य-ताका आधार शक्तियोंको अनिवार्यता नहीं रखता, जब कि संस्कृति जीवनाङ्कुरको ही वृक्षाकार बनाना चाहती है। आजके शब्दोंमें सभ्यता, बाह्य वातावरणमें अपने आपको खपाना ही है। आजकी सभ्यता निम्नप्रकार है—

अन्तः शाक्ताः बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौलाः विचरन्ति महीतले॥

भीतर हृदय शाक्त, बाहर शैव, सभामें वैष्णव अर्थात अपनेको ऊपरी हाव-भावसे बाह्य वातावरणके अनुकूल बनाना ही सभ्यता है।' शराबियोंमें शराबी, चोरोंके मध्यमें निपुण चोर, पण्डितोंमें पण्डित, ज्ञानियोंमें ज्ञानी, राजनीतिज्ञोंमें राजनीतिज्ञ बनना ही सभ्यता है। परन्तु प्राचीनसभ्यता संस्कृतिकी अनुरूपता रखती थी। आजकी सभ्यता क्षण क्षणमें रूप बदलती है।

एक समय था जब कि जीवनको संग्राम माना जाता था। योरुप अपनेको इस गुणके कारण सभ्य मानता था, परन्तु आज सहास्तित्वकी भावना सभ्यताकी कसौटी है। पर कभी दया और क्षमा मनुष्यकी कायरतामें शामिल थे।

Mercy is the weakness of a timid brain. The strong are never mercifull. "Mercy is a double blessing" शेक्सपियर।

'Mercy is all-round curse' says the modern scientist. Vedic culture, page 13.

परन्तु आजकी सभ्यतामें दया और क्षमा मानवताके प्रधान अङ्ग है।

कुछ दिन हुये योरूप, एक निर्बल जीव दूसरे सबल जीवका आहार है, इस नियमको प्रकृतिका नियम मानता था। कहता था कि समुद्रमें छोटी मछलियोंको बडी मछलियाँ खा जाती हैं, उसी तरह यदि छोटे राष्ट्रोंको बडे राष्ट्र हडप लें, तो क्या हर्ज है? हिटलर संस्कृति और सभ्यताके आडमें इसी नीतिका पोषक था। इसलिये योरूप अपनेको ही सभ्य मानता था। भारत कहता है कि विनाश प्रकृतिका प्रथम धर्म नहीं है। भारत कहता है कि पहले उत्पन्न करो, फिर उसका पालन करो और तब उसका विनाश करो। किसान बीज बोता है, फसल उत्पन्न करता और सींचता है, रक्षा करता है जब फसल पक जाती है तब उसे काटता है। इस प्रकार प्रकृतिमें ब्रह्मत्व अर्थात् उत्पादकत्व, विष्णुत्व पालकत्व और स्थायित्व, तीसरा गुण रुद्रत्व विनाशकत्व है। युद्ध-प्रेमी योरूपने प्रकृतिके तीसरे नियमको प्रथम नियम स्वीकार किया। मातृत्वकी प्रकृतिके रूपको छोड कर शक्तिके रूपको ही देखा। इसे दुर्गा समझा। भारत तो कहता है पुत्र कपुत्र भले ही हो जाय, परन्तु माता कुमाता नहीं होती "**कुपुत्रो जायेत माता कुमाता न भवति।**" मानव सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। अतः पशुता इसका आदर्श नहीं है। सबल निर्बलकी रक्षा करे, दुष्टोंका संहार करे यह मनुष्यता है। सबल निर्बलका नाश करे और अपनेसे सबलसे डरे यह पशुता है। पूर्व और पश्चिमकी सभ्यतामें भी अन्तर है।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥

"मनमें कुछ, वाणीसे कुछ और कर्मसे कुछ और ही करना वर्तमान सभ्यताकी मौलिकता है और मनसा, वाचा, कर्मणा एकरूपता रखना प्राचीन सभ्यता है।"

All true culture needs civilization. But all civilazation does not contribute culture.

—Vedic culture, page 16.

"प्रत्येक शुद्ध संस्कृति सभ्यताकी आवश्यकता रखती है, परन्तु प्रत्येक सभ्यताके लिए संस्कृतिकी आवश्यकता नहीं रहती।"

वैदिक-संस्कृति और सभ्यता

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। **समाज क्या है?** मनुष्य-समुदाय और पशु-समूहको क्या हम मनुष्य-समाज या पशु-समाज कह सकते हैं? नहीं; पशु-समूहको समज और समूहको समाज कहा जाता है। समज और समाजमें बडा अन्तर है। समज केवल समुदाय वाचक ही है। परन्तु समाजका रूप निम्न है।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि॥
संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

ऋग्वेद १०।१९१

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, यह सर्व-मान्य सिद्धान्त है। परन्तु समाजकी रूपरेखा कैसी होनी चाहिए, यह असर्व-सम्मत है। जो जनसमूह साथ साथ मिलकर किसी निश्चित सर्व-हितकारी लक्ष्यके प्रति प्रगति करता है, जिसका लक्ष्य सबका सम-हित है तो हम उस जनसमूहको समाज कहते हैं। डाकुओं और चोरोंका समूह समाज नहीं कहला सकता। वैदिक-संस्कृति पृष्ठ २१ पर निम्न बातें पढने योग्य हैं, यथा-

One, and very important mark of civilization, therefore, is community of purpose, Community of mind, Community of language and Community of action.

सभ्यताका एक आवश्यक चिन्ह है समान उद्देश्य, समान-विचार, समान-भाषा और समान-कर्म। इसीलिये वेद हमें उपदेश देता है कि हम लोग साथ साथ चलें, साथ साथ समान भावसे बोलें, सब आपसमें एक दूसरेके मनोभावोंको समझें। ईश्वरीय-ऐश्वर्यका समान भाग आपसमें उपभोग करें। हमारा ध्येय समान हो। हमारी सभायें समान-भावोंसे युक्त हों। हमारी सभ्यता धर्मके मूल-तत्वों पर आधारित है राजनीति पर नहीं। गांधीजीके शब्दोंमें धर्म-हीन राजनीतिको एक फांसी समझिये। वह आत्माका नाश कर देती है। धर्मके मूलमें श्रद्धा ही है। जहाँ श्रद्धा नहीं, वहाँ धर्म नहीं। जहाँ धर्म नहीं वहांकी सभ्यता प्रवञ्चना मात्र है।

धर्म और संस्कृति

संस्कृति धर्मका सूक्ष्मांश है। धर्म संस्कृतिका स्थूलाकार है। धृति-क्षमा इत्यादि मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म सर्व साधारण हैं और वर्णधर्म ये विशेष धर्म हैं। इनमें कुछ दिखावटी भी गुण हैं। जो कि पाखण्ड-रूपमें धारण किये जा सकते हैं। उन्हें मनुने गौणता प्रदान की है।

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥

मनु० ४।२०४

बुद्धिमान् सर्वदा यमोंका सेवन करे, केवल नियमोंका ही न सेवन करे। क्योंकि यमोंका पालन न करके केवल नियमोंका पालन करनेवाला पतित हो जाता है।'

यम निम्न हैं

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।

योगशास्त्र सा० सू० ३०

'अहिंसा', (वैरत्याग) 'सत्य' मनसा, वाचा और कर्मणा सत्यका आचरण करना, 'अस्तेय' मन, वचन, कर्मसे चोरी न करना, 'ब्रह्मचर्य' इन्द्रिय-संयम और 'अपरिग्रह' आवश्यकतासे अधिक धन न बटोरना। ये पांच यम हैं।

नियम ये हैं

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वर-
प्रणिधानानि नियमाः। यो० सा० ३२

'शौच = स्वच्छता; सन्तोष = मनकी तृप्ति अर्थात् तोष, तप = कष्ट सहन; स्वाध्याय = अपने आप धार्मिक ग्रन्थोंको पढ़ना; ईश्वर-प्रणिधान = भक्तिद्वारा ईश्वरके लिये आत्म-समर्पण। ये पांच नियम हैं।'

'वास्तवमें यम ही संस्कृतिके विकासके मूल उपादेय साधन हैं, जो जल और खादका काम करते हैं। नियमोंका सेवन तो दिखावटी सभ्यताके रूपमें भी किया जा सकता है। नियमोंको वृक और विडाल-वृत्ति वाले भी धारण कर सकते हैं। वास्तवमें यमोंका पालन कठिन भी है। सभ्यताके क्षेत्रमें नियमोंका पालन दिखावटीभी किया जा सकता है। यम और नियम प्राणायामकी साधनासे परिमार्जित होते हैं। इस प्रकार धर्म और संस्कृतिका गूढ़ सम्बन्ध है। इनमें अन्तर समझना सूक्ष्म-बुद्धिका ही काम है। साधारणतया दोनों एक ही आकारमें उपस्थित होते हैं। हमारा कर्तव्य होना चाहिए कि हम इनके तत्वोंको समझें और समझावें।

संस्कृति और संस्कार

जिन कार्योंके द्वारा किसी वस्तुमें निर्दोषता, पूर्णता और उपयोगिता लाई जाती है, उन्हें संस्कार कहते हैं। संस्कारका दूसरा अर्थ है सूक्ष्माति सूक्ष्मांश अन्तःकरण पर पड़े विषयोंके प्रभाव। परन्तु यहाँ प्रथम अर्थ ही अपेक्षित है। इस प्रकार संस्कार सोलह भागोंमें विभाजित हैं। गृहस्थाश्रममें ही प्रायः संस्कार किये जाते हैं, वानप्रस्थ और संन्यास संस्कार ही ही इसके अपवाद हैं।

१ गर्भाधान-संस्कार

विद्या समाप्त करनेके पश्चात् स्नातक विवाहित होते हैं। विवाहका उद्देश्य उत्तम-सन्तान लाभ करना ही है। समुचित विधिसे समुचित समयमें स्त्रीमें वीर्यधान करे। इस विज्ञानका विस्तृत विवेचन संस्कार-विधि आदि पुस्तकोंमें प्राप्त किया जा सकता है।

२ पुंसवन-संस्कार

इस संस्कारका समय गर्भ-स्थिर होनेके समयसे दूसरे या तीसरे महीनेमें है। इस संस्कारके द्वारा गर्भकी रक्षा और उसके विकासके उपायोंका प्रयोग करना पड़ता है। माताको भी स्वस्थ और उत्तम-मना बनाया जाता है।

३ सीमन्तोन्नयन

गर्भ स्थिर होनेके चतुर्थ महीनेमें गार्भिणी स्त्रीका मन सन्तुष्ट, आरोग्य, गर्भ-रक्षण, उसका संस्करण किया जाता है। इससे गर्भकी सुन्दर वृद्धि प्रति-दिन होती है।

४ जातकर्म

इस संस्कारमें सुन्दर प्रसूत-गृहका प्रबन्ध किया जाता है। उसकी स्वच्छता आदि की जाती है। बच्चा जब उत्पन्न हो जाता है तो उसे स्नानादि करा कर हवनादि करके सोनेकी शलाकासे मधु द्वारा उसकी जिह्वापर ओम् लिखा जाता है और कानोंमें 'वेदोऽसि' यह वेदवाक्य प्रथम उच्चारित किया जाता है। इसका अभिप्राय यह होता है कि हे बालक! तू ओम्का जाप करनेके लिये उत्पन्न हुआ है और तू मधुर वाणीका ही प्रयोग करना। 'वेदोऽसि' तेरा स्वरूप ज्ञान है। तुझे जीवनमें ज्ञानी विज्ञानी बनना है।

५ नामकरण-संस्कार

जिस दिन बच्चेका जन्म हुआ हो उससे ग्यारहवें दिन बच्चेका नाम रखे। जो सार्थक और छोटा हो। नामकरणमें

"यथा नाम तथा गुणाः" का सिद्धान्त छिपा रहता है। नाम रख कर बालकको आशीर्वाद देकर संस्कार समाप्त कर दिया जाता है।

६ निष्क्रमण-संस्कार

जब बालक चार मासका हो जाता है तो उसे शुद्ध वायु-स्थानमें प्रवेश करानेके लिये यह संस्कार किया जाता है। इसलिए इसे निष्क्रमण कहते हैं। शनैः शनैः बालकको शुद्ध और समुचित वातावरणमें वायु सेवन करावें।

७ अन्न-प्राशन संस्कार

बालकको छठे मासमें अन्न खानेको देना चाहिए। घृत, दही, शहद और भात कुछ दिन बालकको खानेको देना चाहिए। जिस दिन बालकका जन्म हुआ हो उसी दिन यह संस्कार करे।

८ चूडाकर्म अर्थात् मुण्डन

यह संस्कार बालकके जन्मसे तीसरे वर्ष वा एक वर्षमें करना चाहिए। उत्तरायणकाल शुक्ल पक्षमें जिस दिन आनन्द मङ्गल हो, उस दिन यह संस्कार करे। गर्भके केशको हानि-कर समझ कर सर्व प्रथम केशोंको भद्र कर दिया जाता है।

९ कर्ण-वेध संस्कार

कर्ण-वेधका अर्थ कानोंको स्वर्णकी शलाकासे या सुईसे छेदना। यह संस्कार बालकके तीसरे या पांचवें वर्षमें होना चाहिए। बालिकाके कर्ण तथा नासिकाका छेदन भी इसी समय करना चाहिए।

१० उपनयन-संस्कार

उपका अर्थ समीप और नयनका अर्थ ले जाना अर्थात् बालकको ज्ञानके समीप ले जाना अथवा विद्यारम्भ कराना।

ब्रह्मवर्चस्कामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥
मनु० २।३७

यदि बच्चेको ज्ञानी, विज्ञानी और ब्रह्म-तेजसे युक्त बनाना हो, तो गर्भसे पांचवें वर्ष, क्षत्रिय-बालकको बल प्रधान बनाना हो तो छठे वर्ष और वैश्यके बालकको आठवें वर्ष, शूद्रके बालकको भी इसी समय विद्यारम्भ कराना चाहिए।" इसी समय जनेऊ भी पहना देना चाहिए। गायत्रीमंत्रका उपदेश भी इसी समय दिया जाता है।

११ वेदारम्भ-संस्कार

उपनयनके बाद ही वेदारम्भ-संस्कार किया जाता है। बालकोंको पांच वर्षतक माता शिक्षा देवे और पांचसे आठ वर्षतककी आयुतक पिता। आठवें वर्षके पश्चात् बालक वा बालिकायें गुरुकुलमें भेज दिये जायें।

गुरुकुलमें रहनेका समय २५ का निकृष्ट, ३६ का मध्यम और ४८ वर्षका उत्तम माना गया है। उत्तममें चारों वेदोंका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन हो जाता है। निकृष्टको वसु, मध्यमको रुद्र और उत्तमको आदित्य ब्रह्मचारी कहते हैं। आगे चल कर जब ये लोग वान-प्रस्थ और संन्यास आश्रममें जाते हैं, तो ये हमारे पितर हो जाते हैं। इन्हीं जीवित पितरोंको अन्न, दूध आदिसे तृप्त करना तर्पण कहलाता है। जो कि गृहस्थीका प्रति-दिनका कार्य होता है। इनकी आयु भी लगभग तीन सौ वर्षोंकी होती है।

१२ समावर्तन-संस्कार

यह संस्कार आजकल विद्यालयोंमें नाम-मात्रके लिए पाश्चात्य ढंगसे मनाया जाता है। इसी समय दीक्षान्त-भाषण होते हैं और उपाधियाँ प्रदान की जाती हैं। इसे हमारे यहां स्नातककाल कहा गया है। जो कि २४, ३६, ४८ वर्षतक ब्रह्मचर्य-पूर्वक वेदोंके पढनेके बाद मनाया जाता था।

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥

चारों वेदोंको या तीनों वा दो वेदोंको, कमसे कम एक ही वेदको अङ्ग और उपाङ्गोंके सहित ब्रह्मचर्यपूर्वक अध्ययन करके ही स्नातक हो कर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे।

१३ विवाह-संस्कार

यह संस्कार कमसे कम पच्चीस वर्षकी आयुमें सम्पन्न होना चाहिए। स्नातक होने पर और जीविका-प्रबन्ध हो जाने पर विवाह करना चाहिए। इसका उद्देश्य महान् है। इसी आश्रम पर शेष तीनों आश्रम आश्रित होते हैं। इसलिये इसको दुस्तर समुद्र कहा गया है।

१४ वानप्रस्थ

जब गृहस्थीके पुत्रके भी पुत्र हो जावें और पचास वर्षकी आयु समाप्त कर ले तो वानप्रस्थी हो जावे। वनमें वास करे और घरका उत्तरदायित्व पुत्रको सौंप दे। तपके द्वारा ज्ञान और ब्रह्मचर्यका पुनः अर्जन करे। अध्यापन और अध्ययन करे।

१५ संन्यास

वानप्रस्थी जब पचहत्तर वर्षका हो जावे तो संन्यास ग्रहण

करे। यदि वैराग्य प्रबल हो तो स्नातक होनेके बाद ही संन्यासी हो जावे। लोकहितमें अपना सर्वस्व लगा दे।

१६ अन्त्येष्टि-संस्कार

इसको नर-यज्ञ भी कहते हैं। यह संस्कार स्वर्गवासके बाद होता है। इस प्रकारके संस्कृतलोग स्वर्ग-वासी होते है या मोक्ष-गामी होते हैं। ये मरते नहीं। ओमका जाप करते हुये या हरे राम कहते हुये जीवन-यात्रा समाप्त करते हैं। इसीलिये वेद अन्तमें कहता है अपना किया हुआ शुभ कर्म याद करो, ओम्को याद करो "भस्मान्तं शरीरम्" शरीरका अन्त भस्म है।

इन संस्कारोंको सुन्दर ढंगसे समझनेके लिये स्वामी-दयानन्दकी संस्कारविधि, भीमसेनकी संस्कारचन्द्रिका अथवा डा. हरिदत्त शास्त्री कानपुरकी अभिनवसंस्कार-चन्द्रिका पढें, तो सर्वोत्तम होगा। उक्त संस्कार बालक तथा बालिकाओं दोनोंके लिये अनिवार्य हैं। भारतीय-संस्कृतिके ये संस्कार मेरुदण्ड हैं। इन्हीं पर भारतीय-संस्कृति खडी है।

पाश्चात्यवाद और भारतीयसंस्कृति

भारतीय-संस्कृति योरुपके भूत, वर्तमान और भविष्यके सभी वादोंको अपनेमें समाहित रखती है। हमारी समता 'आत्मानं विजानीहि' पर ही आश्रित है। गांधीजी भी यही कहते थे कि प्रथम अपनेको समझो। अपनेमें सम बानो समदृष्टिको प्राप्त करो। दिव्य-दृष्टि प्राप्त करनेकी कोशिश करो। समता तो दौड कर तुम्हारे चरणों पर लोटेगी।

श्रूयतां धर्म-सर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

"धर्मका सार यह है कि जो व्यवहार आपको अपने लिये नहीं अच्छा लगता, उसका व्यवहार आप दूसरोंके लिये भी न करें।' यहां व्यवहारका अर्थ बर्ताव ही है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
गीता।

"ज्ञानी विद्या-विनय सम्पन्न ब्राह्मणमें, चाण्डाल तथा गौ, हाथी, चींटी और कुत्तेमें समान आत्मा और प्रभुको देखते हैं।' इनके साथ यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए। यही सच्ची समता है। यही सच्चा समाजवाद और साम्यवाद है। हमारी समता बडी विस्तृत है जो कि मनुष्य मात्रके भीतर ही सीमित नहीं है। यहां तो प्राणि-मात्र यथा-योग्य समताका अधिकारी है। यहांका साम्यवाद आश्रम और वर्णव्यवस्था पर ही आधारित है। भारतका अपना त्यागवाद है।

निर्वैरः सर्व-भूतेषु यः स मामेति पाण्डवः।

"जो सब प्राणियोंसे अहिंसाका बर्ताव करता है वही मेरा प्रिय है, ऐसा कृष्ण भगवान्का आदेश है।"

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

"जो मनुष्य अपनी ही तरहसे दूसरोंके भी सुख दुःखको समझता है। और अपनी सुविधाओं और असु-विधाओंकी भांति दूसरोंकी भी सुविधा या असुविधा सम-झता है वही त्यागी और योगी है।"

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
अथर्ववेद ६।६४।१

अनुकूल ज्ञानवान् बनो। एक साथ प्रगति करो। तुम सबके मन एक हों। जिस प्रकार पूर्व विद्वानोंने अपनी एकता और साम्यतासे सौभाग्य प्राप्त किया है, उसी प्रकार तुम भी सौभाग्य-शाली बनो।

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समुव्रताः।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्॥
अ. ६।७४।१

"तुम्हारे शरीर एक साथ पुष्ट हों, तुम्हारे मन और आचरण एक साथ उन्नत हों। तुम्हारा ज्ञान वा तुम्हारा ऐश्वर्य एक साथ विकसित हो।"

समानी प्रपा सह वोऽन्न भागः,
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा,
नाभिमिवाभितः॥

"तुम्हारा अन्नजल प्राप्त करनेका स्थान समान हो, तुम्हारे भोजनादि पदार्थ सबके एक समान हों। तुम्हारा लक्ष्य एक हो। तुम सब मिलकर, जिस प्रकार चारों ओर लगे हुए अरे एक नाभिको पुष्ट करते हैं, उसी तरह मिल-कर राष्ट्र व समाज व ज्योतिको उन्नत बनाओ।"

सहनोऽस्तु सहनोऽवतु सह नः इदं वीर्यवदस्तु।
ब्रह्मा इन्द्रस्तद्वेद येन यथा न विद्विषामहे॥

" प्रभो ! हमारी प्रगति एक साथ हो, हमारी एक साथ रक्षा करो, हम वीर्यशाली हों। आपकी ज्ञानज्योतिसे हम लोग आपसमें द्वेष न करें। "

इस प्रकार भारतीय-संस्कृतिमें साम्यकी भावना सर्वत्र पाई जाती है। साम्यका अर्थ सम्प्रति गलत समझा जा रहा है। भारत इस शब्दको दूसरे रूपमें व्यवहृत करता था। वह शब्द था ' यथा-योग्य '। इस प्रकार व्यावहारका आधार न्याय पर स्थिर हो जाता है। वेद कहता है कि प्रत्येक मनुष्यमें पृथक् पृथक् योग्यतायें पाई जाती हैं। एक कक्षामें तीस छात्र पढते हैं। परन्तु सबको बराबर प्राप्ताङ्क नहीं मिलते, क्योंकि हरएककी क्षमता विभिन्न है। अतः यथायोग्य अङ्कप्राप्ति हुई है।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो
मनोजवेष्वसमाः बभूवुः।
आदघ्नासः उपकक्षासः उ त्वे
हृदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥

' एक सी आंखों और कानोंवाले व्यक्ति भी मानसिक प्रगतिमें समान नहीं होते। कुछ उस ज्ञान-सरोवरमें घुटनों-तक ही डूब पाते हैं, कुछ कमर तक। कुछ ऐसे भी होते हैं जो उस ज्ञान-सरोवरमें अच्छीतरह नहाये हुए प्रतीत होते हैं।'

इस प्रकार भारतीय-साम्यवाद त्यागवादकी पृष्ठ-भूमि पर ' यथायोग्य ' की भावना द्वारा टिका हुआ है। पाश्चात्य साम्यवादमें त्यागका स्थान नहीं है। वहाँ ' यथायोग्य ' पर भी ध्यान नहीं दिया गया है। वहाँके मनुष्य काम और अर्थको धर्म और मोक्षका साधनमात्र समझते हैं। वहाँ कामकी इतनी प्रचण्डता बढी कि लोग प्राकृतिक जीवनके प्रति लौट पडे। आर्थिक संघर्ष भी अपनी चरम सीमापर है। लोग धनके सामने घुटने टेक कर अपनी मान-मर्यादासे सर्वथा हाथ धो बैठे हैं। भारत इस पद्धतिको यूं पूरा करता है, कि मनुष्यके जीवन $\frac{1}{4}$ भाग ही अर्थ और कामकी संयमित मर्यादामें व्यतीत किया जावे। शेष $\frac{3}{4}$ भाग त्यागके आदर्शपर ही व्यतीत किया जावे।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः
कस्य स्विद् धनम्।

' धनको दानके द्वारा त्याग कर उसका उपभोग करो। धनके दान देनेमें लालच मत करो। क्योंकि धन तो हर हालतमें नश्वर है। धन किसीका नहीं होता और न किसीके साथ जाता ही है। ' धनकी तीन ही गति होती है-भोग, दान और अपहरण। इन तीनोंमें दानका स्थान सबसे ऊंचा है। धन खूब पैदा करो, परन्तु उसे सरकारी कोषके बजाय ईश्वरीय-कोष अर्थात् दुःखियोंकी सहायतामें दिल खोलकर खर्च करो। भारतका त्यागवाद संसारके सभी वादोंसे श्रेष्ठ है। महात्मा गांधी इस त्यागवादके प्रतीक थे। भारतीय-संस्कृति गांधीजीके जीवनमें ओतप्रोत थी। वास्तवमें वे ही भारतके सच्चे प्रतिनिधि थे। परन्तु पाश्चात्य साम्यवाद भोग-वाद पर ही स्थापित है। मानव जबतक अपनी आवश्यकताओंको संयमित नहीं करता, तबतक वह दूसरोंकी सुविधाओंकी रक्षा भी नहीं कर सकता।

भारतीय-संस्कृति और पञ्च-शील

विश्व-शान्तिके अग्र-दूत भारत-माताके सपूत स्वनाम धन्य पण्डित श्री जवाहरलालजीने पञ्च-शील योजना निर्माण की है। यत्र तत्र सर्वत्र यदा कदा इसकी चर्चा सुनाई पडती है। वे सिद्धान्त ये हैं— अनाक्रमण, अनतिक्रमण, अहस्तक्षेप, पारस्परिक-सहायता और शान्ति-पूर्वक सह-अस्तित्व ये पांच तत्व पंचशीलके है। इनका आधार विश्व-बन्धुत्व ही है। विश्व-बन्धुत्वका मूल उदारता है। उदारताका मूल समदृष्टि है। समदृष्टि आत्म-ज्ञानका फल है। आत्म-ज्ञानसे स्व-रूपी बूंद उदारताके समुद्र-रूपमें विकसित हो जाती है। इसीलिये ' आत्मानं विजानीहि ' भारतीय संस्कृतिका प्रधान अङ्ग है।

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।

' उदार चरितवालोंका तो वसुधा ही परिवार है। ' अतः उदारताके अगाध समुद्रमें पञ्च-शील ज्योति स्तम्भोंकी भांति देदीप्यमान है। भारतीय संस्कृतिमें राज्य-विस्तारकी भावना नहींके बराबर है। भारतीयता आर्यत्व अर्थात् सज्जनताका विस्तार चाहती है। इसलिये संस्कृतिका आदि-स्रोत कहता है कि— ' कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ' और दूसरी तरफ कहता है कि—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ॥

' संसारको श्रेष्ठ बनाओ और सबको मित्रकी दृष्टिसे देखो, तुम्हें भी सब मित्रकी दृष्टिसे देखें। '

रामने रावणको मार कर लङ्का पर विजय प्राप्त की और वहाँका राज्य वहाँके ही निवासी बिभीषणको सौंप दिया।

कृष्णने कंसको मारा, परन्तु उसका राज्य उसके पिता उग्रसेनको वापस कर दिया। हाँ; जहाँ मानवता दानवता द्वारा ध्वस्त की जाती थी, वहाँ भारतका चक्रवर्ती राजा अवश्य दखल देता था। क्योंकि 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' ही यहाँके राजाओंका आदर्श था। कभी कभी तो शरणागतकी रक्षामें भारतको भयङ्कर-युद्ध लड़ने पड़े।

भारत भूमि सर्वदा वीर-प्रसूता रही है। रामका धनुष, विष्णुका चक्र, रुद्रका त्रिशूल, परशुरामका फरसा, भीमकी गदा, हनुमान्‌की अपार बाहु-शक्ति, कृष्णका चक्र, अर्जुनका बाण, राणाका भाला, शिवाजीको तलवार कौन नहीं जानता। इसलिये हम कहते थे कि— "योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः" जो हमसे द्वेष करता है अथवा हम जिससे द्वेष करते हैं, उसे न्यायकी अग्निमें रखते हैं।"

अनाक्रमण

यह पञ्चशीलका प्रथम सिद्धान्त है। इसका अर्थ है, कोई भी देश किसी भी दूसरे देशपर आक्रमण न करे। भारतका सिद्धान्त अहिंसा परम धर्म माना गया है। अहिंसावादी राष्ट्र दूसरे देशपर आक्रमण करनेका विचार भी नहीं कर सकता। भारत मानवताका पोषक है। संसारको अपना परिवार समझता है, अतः यदि किसी भी भूमिपर दानवताके द्वारा मानवता नष्ट की जाती है, तो भारत मानवताकी यथा सम्भव रक्षा करेगा। दलाई लामा तिब्बतसे भाग कर आये, भारतने उनको शरण दी। यदि इस आधार पर चीन भारतका शत्रु हो गया, तो भारत शरणागतकी रक्षासे विमुख कभी नहीं हो सकता। अब भी भारतके सामने तिब्बतपर चीनका आततायीपन नग्न ताण्डवकर रहा है। तिब्बतकी जनता रूपी द्रौपदी कृष्णरूपी नेहरूको मनसे याद कर रही है। चीनी दुःशासन मदान्ध साम्यवादको आड़में दानवता पर ही उतारू है। यदि भारत तिब्बतसे चीनियोंको मार भगाता है, तो तिब्बत पर आक्रमण नहीं कहा जा सकता, अपितु वहांकी जनताकी रक्षा ही होगी।

अनतिक्रमण

अनति-क्रमण पंच-शीलका दूसरा सिद्धान्त है। अब प्रश्न यह उठता है कि दूसरे देशकी सीमाका उलंघन क्यों करना पड़ता है? इस प्रश्नका स्पष्ट उत्तर यह है कि राज्य-विस्तारकी भावना। अब राज्य विस्तारकी भावना बाजार-विस्तारके रूपमें बदल चुकी है। परन्तु अब संसारके सामने एक नई समस्या खड़ी होगई है, वह यह है कि भूमिका अविस्तार और जनसंख्याकी अति वृद्धि। इसी समस्याने चीनको विस्तार की भावनाका आखेट बनाया है। यह चीनका ही प्रश्न नहीं है। यह समस्या आज नहीं तो कल सभी राष्ट्रोंके सामने खड़ी होगी। विज्ञानको समुद्र और हिमालयको उर्वरा-भूमिमें बदलना पड़ेगा, अरब और राजस्थानके रेगिस्तानको भी उपजाऊ भूमि बनाना पड़ेगा। परन्तु तब भी इस समस्याका समाधान नहीं किया जा सकता। चन्द्रलोकको आबाद करनेका स्वप्न भी इस समस्याको नहीं हल कर सकता। यह तो हनुमान् और सुरसा राक्षसीकी स्थिति है। यदि जनसंख्या इसी प्रकार गतिशील रही, तो पृथिवीको वामनका रूप धारण करना पड़ेगा। ऐसी दशामें अतिक्रमणकी नीति सभी राष्ट्रोंको अपनानी ही पड़ेगी।

आजका विज्ञान जन-संख्याकी वृद्धिको रोकनेके लिये कटिबद्ध है। इसीका आश्रय लेकर भारतने भी अभद्र, हानिप्रद तथा अन्यरोगोंकी जननी परिवार-नियोजनकी प्रथा प्रचलित की है। यह तो ऐसा ही है कि अग्निमें काष्ठ और घी डालकर उसे शान्त करनेकी मूर्खतापूर्ण कोशिश। बड़े तथा छोटे शहरोंमें डाक्टर-गण नवजवानोंको अभद्र और हानि-प्रद साधन गर्भाधानकी रोकथामके लिये दे रहे हैं। युवतियोंको गर्भपातकी विधियां सिखाई जा रही है। क्या इस कुव्यवस्थासे जनताका शरीर नये नये रोगोंका आखेट न होगा? इस समस्याका समाधान केवल भारतीय संस्कृति ही कर सकती है। वह है वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी पुनः स्थापना। अनतिक्रमणको रोकनेके लिए संसारमें और कोई भद्र साधन नहीं है। वर्णाश्रम-व्यवस्थाका आधार अपनेको जानना ही है। अपनेको जानकर ही समताकी योग्यता प्राप्त की जा सकती है। समताका आधार त्याग है। त्याग ही सारे रोगोंकी अचूक दवा है।

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥

"यजुर्वेद"

"जिस समदर्शितामें सब प्राणीस्वरूपमें देखे जाते हैं, आत्माका ही दर्शन सर्वत्र होता है। वहां न तो मोहका स्थान है और न शोकका ही।" क्योंकि सब अपने ही तो हैं, संसारमें कौन पराया है। अतः अनतिक्रमणको भारतीय

संस्कृतिका समुचित प्रचार तथा तद्वत् आचरण ही रोक सकता है।

अहस्ताक्षेप

इसका अर्थ है कि किसी राष्ट्रके निजी प्रबन्धमें दखल न देना। बडे बडे राष्ट्र छोटे छोटे राष्ट्रोंको इस नियमके अभावमें हडप लेते हैं। जिस प्रकार दो बिल्लियोंकी आपसी लडाईमें बन्दर निर्णायक बन जावे, तो ईश्वर ही खैर करे, अन्यथा सत्यानाश अवश्यंभावी है। कवि-कुल-शिरोमणि कालिदासके शब्दोंमें '**द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन्**' अर्थात् दोके बीचमें मैं तीसरा नहीं होता। हाँ, यदि कोई भारतसे सहायताकी याचना करता है, तो भारत न्याय और वीरतासे सत्य और निर्बलकी सहायता करेगा '**नये च शौर्ये च वसन्ति सम्पदः**'। भारतके पास जो कहेगा कि '**पाहि मां, त्राहि मां**' मुझे बचाओ, मेरी रक्षा करो; इस प्रकारसे यदि कोई याचना करेगा तभी भारत हस्ताक्षेप करेगा अन्यथा नहीं। यही भारतीयसंस्कृतिकी परम्परा है।

पारस्परिक सहायता और सहयोग

प्रकृतिका प्रत्येक कार्य आपसी सहयोगसे चल रहा है। पांच प्राकृतिकतत्वोंके सहयोगसे ही समस्त विश्व चल रहा है। यह प्राणि-मात्रका शरीर सहयोगका सुन्दरतम दृष्टान्त है। बिना आपसी सहयोगके किसी भी पदार्थका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। हमारी वर्ण-व्यवस्था भी इसका उज्ज्वल प्रमाण है। आप इसके विकृत रूपको न देखें, अपितु इसके शुद्ध रूपको देखें। विकृतको सुकृतमें लाना ही हमारा उत्तरदायित्व है। हम पराधीन थे, हमने पराधीनतासे उठकर स्वाधीनता प्राप्त की। विकृतिसे हटकर सुकृतिकी ओर प्रगतिशीलता ही जीवनका चिह्न है। ब्राह्मण सबको शिक्षित करता था, क्षत्रिय सबकी रक्षा करता था, वैश्य उत्पादन द्वारा सबका पालन करता था, शूद्र अपने श्रमसे सबकी सेवा करता था। यह तभी हो सकता है जब कि हम गुण, कर्म, स्वभावानुसार ही कार्य सम्पादनका अवसर दें। इसी प्रकार सबल राष्ट्र निर्बल राष्ट्रोंकी उन्नतिका ध्यान रखें, जिस प्रकार बडा भाई छोटे भाईकी उन्नतिका उत्तरदायी होता है। अतः भारतीयसंस्कृति कहती है कि—

सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु।
सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।

'हम सहयोगसे एक दूसरेकी रक्षा करें। सांसारिक सुखोंका यथायोग्य मिलकर उपभोग करें। सहयोगसे शक्तिशाली बनें। हमारे और आपके सिद्धान्त ब्रह्मवर्चस हों। जिससे कि आपसमें द्वेष न हो।' सहयोगका आधार दान या प्रदान है।

श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्।
ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

'श्रद्धासे दो, अश्रद्धासे दो, यशकी इच्छासे दो, लज्जासे दो, डरसे दो, प्रेमसे दो।' सुन्दर दान श्रद्धा द्वारा दिया होता है। श्रीकी प्राप्तिसे भी दान देना चाहिए।

शान्तिपूर्वक सह-अस्तित्व

शान्ति-पूर्वक साथ साथ जीवन यात्रा समाप्त करना। शान्तिसे स्वयं जीना और दूसरेको शान्तिसे जीने देना। इस ध्येयको पूरा करनेके लिये स्वयंको तथा पडोसी राष्ट्रोंको शान्तिकी भावनासे ओतप्रोत करना। इसका भी एक-मात्र साधन त्यागवादसे प्रेम और भोगवादसे घृणा ही है। यदि पडोसी चीन और पाकिस्तानकी भांति कलह-प्रिय हुआ, तो आप कबतक शान्तिका स्वप्न देख सकेंगे। शान्तिकी बडी बहन क्रान्ति है। क्रान्तिका सच्चा स्रोत आत्मनिष्ठा है। आपके सैनिक जब बलिदानकी भावनासे आत्म-निष्ठ होकर शरीरका मोह छोड देंगे, तभी आप अपने पडोसीको शान्तिका पाठ पढा सकते हैं। सरहदी गांधीको अभीतक पाकिस्तानके जेलसे नहीं छुडा सके। दलाई लामाको तिब्बतमें नहीं बिठा सके। यदि भारतकी जनता क्रान्तिकी सच्ची उपासिका होगी, आत्म-बलिके सुअवसरके लिये उत्सुक होगी, तभी आपके सहयोगका मूल्य होगा। तभी शान्ति आ सकती है। जब कि प्रथम क्रान्तिका चरण पड चुका हो।

यदि हम स्वयं, देश, राष्ट्र और संसारको सुखी देखना चाहते हैं, तो भारतीयसंस्कृतिकी त्रिवेणी अपने आचरणों द्वारा सर्वत्र प्रवाहित करनी पडेगी। अन्यथा हमारी कल्पनायें कागजी घोडों पर सवार होकर दशहरेके रावणकी भांति युद्धकी आगसे भस्मीभूत हो जायेंगी। आत्मरक्षाकी क्षमता इस समय सबसे बडी आवश्यकता है। सभी बातें भारतीयताके आञ्चलमें हैं, परन्तु हमारी दृष्टि, बाह्य अधिक हो गई है।

♣ ♣ ♣

षष्ठ मुक्तिका
भारत--महिमा

गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारत-भूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥
(विष्णुपुराणे २।३।१)

अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या,
द्वीपेषु वर्षेष्वधि पुण्यमेतत् ॥
(श्रीमद् भागवते ५।६।१३)

" देवगण इस आर्य-भूमि भारत-वर्षकी महिमा गाते है। और कहते हैं कि जो इस भूमि पर सौभाग्यसे जन्म लेते हैं वे धन्य हैं। पुण्य-पुरुष ही आर्यत्वके कारण इस स्वर्गदायिनी पुनीत-भूमिमे जन्म ग्रहण करते हैं। भारत संसारमें सबसे श्रेष्ठ देश है।

अया मुबारकल अर्जे योशय्ये नुहामिनल।
हिन्दे फराद् कल्लाहो मैय्योनज्जे लाजिकतुन ॥ १ ॥
वहल तजलेयतुन् एनाने साहबी अरबातुन् ।
हाज ही युनज्जेलरसूलो जिकतान मिनल् हिन्दतुन् ॥ २ ॥
यकुलुनल्लाह या अहलल् अर्जे आलमीन कुल्लहुम ।
फत्तविऊ जिकतुल् वेद् हक्कन मालम् युनज्जेलहुन ॥
अरबके विद्वान् " लाबी " कवि, १७०० पूर्व ईसा।

" हे हिन्दुस्तानको धन्य भूमे ! तू आदर करने योग्य है। क्योंकि तुझमें ही ईश्वरने अपने सत्य-ज्ञानका प्रकाश किया। ईश्वरीय ज्ञान रूपसे चारों वेद हमारे मानसिक नेत्रोंको आकर्षक और शीतल उषाको ज्योतिको देते हैं। परमेश्वरने हिन्दुस्तानमें अपने ऋषियोंके हृदयोंमें इन चारों वेदोंका प्रकाश किया।

सारे जहांसे अच्छा हिन्दोस्तां हमारा।
हम बुलबुलें हैं उसकी वह गुलिस्तां हमारा ॥
गुरवत हूं अगर हम रहता है दिल वतनमें।
समझो वहीं हमें भी दिल हो जहां हमारा ॥
यूनान मिश्र रोमां सब मिट गये जहांसे।
अब तक मगर है बाकी नामों निशां हमारा॥
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहां हमारा ॥

" इकबाल " कोई मरहम अपना नहीं जहांमें।
मालूम क्या किसीको दरदे निहां हमारा ॥

Human progresses on acts of faith. The acts, on which our civilisation is based, are to be found in the principal Upanishads

डा० राधाकृष्णन्
भारतके राष्ट्र-पति

'मानवीय-प्रगतिका आधार वे कार्य हैं जो श्रद्धाकी नींव पर खडे होते हैं। हमारी प्रगति रूप हमारी सभ्यता है। यह सभ्यता श्रद्धाके जिन आधारोंपर खडी है उनका सूत्र मुख्य मुख्य उपनिषदोंमें पाया जाता है।'

Oh India ! will you not help us ?
Be patient with us, India.
Remember we are your children. you are old and learned and wise before we existed Our path is steep and thorny. Help us, Mother India ! we, your real Vedic children, are turning our gaze to our motherland together.
We can become the great regenerating and moralising force of this world.
—By Laurd Flinch, Paris.

'हे भारत-माता ! हम तेरे पुत्र हैं; तू हमें सहायता दे। तेरी सहायता और सहानुभूतिके लिए हम टकटकी लगाये हैं। हमारा मार्ग अशान्त और कण्टक-मय है। हम तेरे पुत्र हैं। तू हमारे आविर्भावके पहले ही उन्नतिके उच्चतम शिखरको पहुंच चुकी है। हम तेरे असली वैदिक पुत्र हैं, हम तेरी ही सहायतासे संसारमें उन्नति कर सकते हैं। अत एव हे भारत माता ! तू हमें सहायता दे।

We must make a distinction between the spiritual world of God and the material world of man. These two worlds are entire opposites.

भौतिक और आध्यात्मिक जीवनमें बडा अन्तर है। दोनों आपसमें विरोधी हैं।

It must be admitted that man, the pure image of God, was in the beginning without sin and sickness, trouble and misery.

आरम्भमें मनुष्य रोग, द्वेष, दुःख, दारिद्र्यसे मुक्त था। न वह पापी था, न रोगी। वह विशुद्ध था और ईश्वरीय तेज उसमें विद्यमान था। (Adolf just, वैदिक सम्पत्ति १७)

स्वामी दयानन्दको Cumberland से Mr Mild. M. D. का पत्र—

I desire not only to know truth, but to live the truth, so far as my soul and body may permit.

मेरी कामना केवल यही नहीं है कि सत्यको जानूँ, प्रत्युत यह है कि जहाँ तक मेरी आत्मा और शरीरसे हो सके यथाशक्ति सत्यका जीवन व्यतीत करूँ।

In science too, the debt of Europe to India has been considerable.

[History of the Sanskrit literature, by Macdonell]

विद्याओंके लिए भी योरप भारतका ऋणी है।

So, in returning to the fountain head, do we find in India all the poetic and religious traditions of ancient and modern people.

× × ×

The chaldeans, the Babylonians and the, habitants of Calchis derived their civilisation from India. [Theogony of the Hindus P. 108]

इस प्रकार भारत समस्त संसारका गुरु है। समस्त संसारके नये और धार्मिक विश्वासोंको भारतसे सम्बन्ध रखता हुआ देखते हैं। हमें पुनः पुरानी स्थितिको प्राप्त करना है। भारत भारत ही के समान है।

जय-भारत

लखनऊ विद्यापीठकी एम्. ए. की

परीक्षाके लिये ऋग्वेदके सूक्त

लखनऊ विद्यापीठकी एम्. ए. (M. A.) की परीक्षामें ऋग्वेदके प्रथम मंडलके पहिले ५० सूक्त रखे हैं। हमारा हिंदी अर्थ, भावार्थ, स्पष्टीकरण आदि नीचे लिखे सूक्तोंका छप कर तैयार है—

				मूल्य	डा. व्य.
१ मधुच्छंदा	ऋषिके	१२०	मंत्र	१)	०–२५
२ मेधातिथि	,,	३२०	,,	२)	०–२५
३ शुनःशेप	,,	१०७	,,	१)	०–२५
४ हिरण्यस्तूप	,,	९६	,,	१)	०–२५
५ कण्व	,,	१२५	,,	२)	०–५०
यहांतक ५० सूक्त ऋग्वेदके प्रथम मंडलके हैं।					
६ सव्य	ऋषिके	७२	मंत्र	१)	०–२५
७ नोधा	,,	८५	,,	१)	०–२५
८ पराशर	,,	१०५	,,	१)	०–२५
९ गौतम	,,	२१४	,,	२)	०–५०
१० कुत्स	ऋषिके	२५१	मंत्र	२)	०–५०
११ त्रित	,,	११२	,,	१–५०	०–३७
यहांतक ऋग्वेदके प्रथम मंडलके सूक्त हैं।					
१२ संवनन	ऋषिके	१९	मंत्र	०–५०	०–१३
१३ हिरण्यगर्भ	,,	१२७	,,	१)	०–२५
१४ नारायण	,,	३०	,,	१)	०–२५
१५ बृहस्पति	,,	२०	,,	१)	०–२५
१६ वागम्भृणी	ऋषिकाके	८	,,	१)	०–२५
१७ विश्वकर्मा	ऋषिके	१४	,,	१)	०–२५
१८ सप्तऋषि	,,	७	,,	०–५०	०–१३
१९ वशिष्ठ	,,	९५५	,,	७)	१–५०
२० भरद्वाज	,,	७७३	,,	७)	१–५०

ये पुस्तक सब पुस्तक-विक्रेताओंके पास मिलते हैं।

मन्त्री— स्वाध्याय-मण्डल, पोस्ट- स्वाध्याय-मण्डल (पारडी) पारडी, [जि. सूरत]

मानव निर्माणकी वैदिक-योजना

(३)

(लेखक— श्री दुर्गाशंकर त्रिवेदी)

संस्कारोंके विभिन्न प्रयोजन

हमारे मेधावी ऋषि महर्षियोंकी संस्कारपद्धति प्रारम्भ करनेकी मूल धारणा क्या रही होगी। उनका इस पद्धतिके प्रचारके पीछे क्या प्रयोजन था, यह खोज करना आज बडा ही आवश्यक तो है, पर इस दृष्टिसे इस खोजमें कई कठिनाईयां हैं। जिनमेंसे कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं—

१ वे परिस्थितियां जिनमें संस्कारोंका प्रादुर्भाव हुआ था, वे युगोंके गर्भमें जा छिपी हैं। आज तो उनके चारों और तरह तरहके तर्क-वितर्कों और अंधविश्वासोंका जाल-सा बिछ गया लगता है। अतः इस विषयपर खोजबीन करनेके लिए प्राप्य तथ्योंके गम्भीर ज्ञान एवं खोजकी भावनाके साथ ही साथ संयुक्त सुनियोजित उदात्त कल्पना अपेक्षित ही है।

२ जातीय भावना सुदूर अतीतके देदीप्यमान पार्श्वकी ओर ही ध्यान देती नजर आरही है। इस कारणसे समीक्षात्मक दृष्टिसे आच्छन्न होजाती है, जो इस प्रकरणके अनुसंधानात्मक कार्योंके लिए अत्यन्त आवश्यक हैं।

३ इस दृष्टिसे सबसे बडी कठिनाई एक है, वह है आधुनिक मस्तिष्ककी पूर्वाग्रही धारणा! पाश्चात्य संस्कृतिसे अभिभूत होकर वह यह समझ बैठा है कि प्राचीन कालकी सारी बातें अंधविश्वास पूर्ण ही हैं। यदि सच कहा जाय तो स्थिति यह है कि इस विचारधारासे अभिभूत मानवमें कठोरतम प्राचीन अनुशासनको समझनेके लिए बिल्कुल भी धैर्य नहीं है।

इस दृष्टिसे प्राचीन संस्कृतिके विद्यार्थी और शोध साहित्यके प्रणेताको अपने आपको एक तो निरी श्रद्धा और भावुकतासे बचाना होगा। वहीं दूसरी ओर उसे अपनी अति सन्देहात्मक प्रवृत्तिसे अपने आपको बचाते रहना भी अत्यन्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य सा है।

अतः संस्कारोंके ही नहीं, प्राचीन संस्कृतिके अन्वेषकों विद्यार्थियों एवं पाठकोंको अतीतके प्रति एक विशेष आदर भाव अपने आपमें जागृत करना होगा और इस प्रकार मानवसभ्यताके विकासके विभिन्न स्तरोंका अध्ययन करके मानवताके प्रति उसका दृष्टिकोण सीखना चाहिए।

दो प्रमुखतम वर्ग

साधारणतया हम संस्कारपद्धतिके प्रयोजनको दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१ सरल विश्वास भावना।

२ कर्मकाण्डीय एवं सांस्कृतिकभावना।

इन दो प्रयोजनों पर विवेचनकी दृष्टिसे भारतीय संस्कृतिके सुप्रसिद्ध विद्वान् डा. राजबली पाण्डेयके ये विचार हमें चिन्तनकी सामग्री प्रदान करते हैं। वे कहते हैं— 'संस्कारोंके दुहरे प्रयोजन हैं। पहला वर्ग सरल विश्वास और अकृत्रिम मनकी सहज सादगीसे उद्दिष्ट है। द्वितीय वर्ग कर्मकाण्डीय एवं सांस्कृतिक है। इसका उद्‌भव सामाजिक विकास और उन्नतिकी नियामक चेतन शक्तियोंके कारण होता है, जब कि मनुष्य प्राकृतिक आधारोंके ऊपर ही विकासका प्रयत्न करता है। पुरोहित जन साधारणको पहुंचसे दूर न होते हुए भी उसकी अपेक्षा उच्चतर स्तरपर अवश्य था, अतः उसने विभिन्न प्रकारोंसे सामाजिक प्रथाओंको और भी परिष्कृत किया। दोनों प्रकारके संस्कार अत्यन्त प्राचीन समयसे ही समानान्तर रूपसे व्यवहृत होते रहे हैं, उन्होंने परस्पर एक दूसरेको प्रभावित किया है, और आज भी वे हिन्दू धर्ममें प्रचलित हैं।'

ये दो वर्गीकरण, केवल वर्गीकरणमात्रकी दृष्टिसे ठीक हैं। परन्तु हमें इसके साथ ही साथ ऋषियोंकी संस्कार प्रणालीके प्रारम्भ करनेके प्रयोजनोंपर अध्ययन करना है। इस दृष्टिसे वर्गीकरण किया जाए तो हम इन्हें निम्न भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। जो इस प्रकार हैं—

(१) आध्यात्मिक प्रयोजन

(२) व्यक्तित्व निर्माणका प्रयोजन

(३) नैतिक प्रयोजन

(४) सांस्कृतिक प्रयोजन

(५) लोकप्रियताके प्रयोजन

(६) विभिन्न प्रयोजन

आगामी पृष्ठोंमें हम प्रत्येक प्रयोजनको देखते हुए उसको विविध दृष्टिकोणोंसे समझनेका प्रयत्न करेंगे।

आध्यात्मिक प्रयोजन

आध्यात्मिकता हमारे धार्मिक जीवनका एक बहुत बडा अंग है। हिन्दुत्वकी एक प्रमुखतम विशेषता यदि ढूंढी जाए तो वह आध्यात्मिकता ही हो सकती है। आजतकके धार्मिक इतिहासका प्रत्येक युगका उससे घनिष्ट सम्बन्ध है। एक मात्र कारण यही रहा है कि उसने संस्कारोंको भी आध्यात्मिकतासे सराबोर कर दिया है। हम संस्कारोंके आध्यात्मिक महत्वकी ओर देखें और उन्हे लिपिबद्ध कर दें यह बडा ही कठिन काम है, क्योंकि आध्यात्मिकता तो अनुभव करनेकी चीज है, वह तो अनुभव करनेकी वस्तु है। यह तो उनके हृदयसे ही पूछा जाय तो ठीक होगा जो कि संस्कारोंसे संस्कारित हो गये हैं। संस्कारोंके आध्यात्मिक महत्व पर डा. राजबली पाण्डेयके ये विचार बडे विचारणीय हैं। वे कहते हैं— 'हिन्दुओंके लिए प्रत्यक्ष अंग उपांगोंकी अपेक्षा उनका बहुत अधिक महत्व है। उनकी दृष्टिमें वे संस्कार्य व्यक्तिके आन्तरिक एवं आध्यात्मिक तत्वोंके बाह्य प्रतीक थे। उसकी दृष्टि संस्कारोंके बाहरी विधि विधानसे बहुत दूर चली जाती है और वे ऐसा अनुभव करते हैं कि जैसे कोई अदृश्य वस्तु उनके समस्त व्यक्तित्वको पवित्र कर रही हो। इस प्रकार संस्कार हिन्दुओंके लिए सजीव धार्मिक अनुभव थे, केवल बाहरी उपचार मात्र नहीं।'

पं. सातवलेकरजीने एक बार (समय याद ही नहीं है, परन्तु अपने विद्यार्थी जीवनकी डायरीमें उनके एक प्रवचनका नोटस् लिखा है।) कहा था— 'मानवका जीवन पशुवत् नहीं होने पाए, इसी लिए हमारे ऋषि महर्षियोंने जीवनके प्रत्येक समयके क्रिया कलापोंका अध्यात्मके साथ समन्वय किया था।' उनके शब्दोंमें अन्तर हो सकता है। परन्तु भाव यही था। इस दृष्टिसे हम यह तथ्य प्राप्त करते हैं कि 'पशुत्वसे मनुष्यत्व और अन्ततः देवत्वकी ओर अग्रसर होना ही ऋषियों द्वारा प्रणीत संस्कार प्रणालीका आध्यात्मिक उद्देश्य था। संस्कार जीवनको आत्मवादी और भौतिक धारणाओंके बीच मध्यम मार्गका काम देते रहते थे! मानवताके विकासका माध्यम वे संस्कारोंको ही निर्धारित कर गए थे।

इस प्रकार कालान्तरमें संस्कार एक जीवनपद्धति बन गया था। इन संस्कारोंके विधिवत् अनुष्ठानसे हिन्दुओंका सामान्य जीवन, जो अन्यथा समय समय पर होनेवाले अनुष्ठानोंके बिना पूर्णतः भौतिक बन जाता, एक विशालतम संस्कार ही बन गया था। आध्यात्मिकताके मापदण्डसे आर्य जनताका यह विश्वास था, कि सविधि संस्कारोंके अनुष्ठान रत रहनेसे वे दैहिक बंधनसे मुक्त होकर मृत्युरूपी जीवन सागरको पार कर लेंगे। उनकी यही दिव्य मनोधारणा यजुर्वेदके इन स्वरोंमें स्पष्ट है— 'जो व्यक्ति विद्या तथा अविद्या दोनोंको ही जानता है, वह अविद्यासे मृत्युको पार करके विद्यासे अमरत्वको प्राप्त कर लेता है।' +

इस प्रकार हम देखते हैं कि यही एक ऋषि महर्षि प्रणीत मार्ग था, जिसके माध्यमसे इस क्रियाशीलतासे परिपूर्ण सांसारिक जीवनका समन्वय आध्यात्मिक तथ्योंके साथ पूर्णतः स्थापित किया जा सकता है। हमारे दैनिक जीवनके क्रिया कलाप इस दुरूह कार्य प्रणालीमें बाधक नहीं थे, अपितु पूर्णताकी प्राप्तिमें पूर्णरूपेण ही सहायक हो सकते थे, यही एक दृष्टिकोण रखकर ही उन मेधावी पूर्वजोंने हमारे समक्ष यह दिव्यास्त्र रखा था। यदि मनुष्यको संस्कारित नहीं किया जाता, तो उसका जीवन आज जितना अग्रगामी है उतना आगेकी ओर संभवतः नहीं बढ पाता। इसी दृष्टिसे मानवमें आध्यात्म तत्वोंकी भूख जागृत करनेका प्रयोजन ही ऋषियोंकी विचारधारा रही होगी। संस्कारोंका एकमेव आध्यात्मिक प्रयोजन यही था कि मानवका जीवन सुन्दर तथा परिष्कृत होवे।

व्यक्तित्वनिर्माणका प्रयोजन

दूसरा प्रयोजन जो सांस्कृतिक दृष्टिसे महत्व रखता है, वह है व्यक्तिके व्यक्तित्वका समुचित रूपसे विकासका और वह केवल विकास तक ही सीमित नहीं है, वरन् उसका प्रयोजन मानवमात्रका संतुलित विकास है। इस प्रयोजनको तुलना महर्षि अंगिरा चित्र कर्मसे तुलना करते हुए कहते हैं कि— 'जिस प्रकार चित्र कर्ममें सफलता प्राप्त करनेके लिए विविध रंग अपेक्षित होते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मणत्व या चरित्र निर्माण भी विभिन्न संस्कारोंके द्वारा होता है।'' ॐ

हमारे मेधावी पूर्वजोंने, जो सही अर्थोंमें समाजशास्त्री थे, मनुष्यको सहजगत्यावधिसे विकासके लिए छोड देनेकी अपेक्षा विवेकपूर्वक वैयक्तिक चरित्रको ढालनेकी आवश्यकताका

+ यजुर्वेद ४०-११

ॐ 'चित्रकर्म यथाऽनेकैः रङ्गैरुन्मील्यते शनैः। ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकम्॥' वीं. मि. भा. १ पृ. १३८ पर उद्धृत

अनुभव किया और इसी प्रयोजनके लिए उन्होंने जो विविधतम प्रयोग किए, कालान्तरमें वे ही संस्कारोंके रूपमें विकसित हुए। ये संस्कार जीवनके प्रत्येक भागको पूर्ण रूपेण व्याप्त कर लेते हैं। इतना ही नहीं उनके द्वारा व्यक्तिके आत्मसिद्धान्तको भी प्रभावित करनेका प्रयास किया जाता रहा।

संस्कार मनुष्यके व्यक्तित्वके विकासके लिए मार्गदीपका कार्य करते थे, जो आयु वृद्धिके साथ ही साथ व्यक्तिके जीवनको भी एक निर्धारित लक्ष्यकी ओर ले जाते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक आर्यका जीवन बडा ही सुनियोजित, अनुशासित और सोद्देश्य विचारधारामें आगे बढता जाता था। व्यक्तिके समुचित निर्माणकी दृष्टिसे किए संस्कारका क्या महत्व था, यह अगले पृष्ठोंमें प्रत्येक संस्कार पर विचार करते समय ही किया जा सकेगा।

संस्कारोंको अनिवार्यताका रूप थोपनेमें हमारे मेधावी ऋषियोंका एक उद्देश्य संस्कृति तथा चरित्रकी दृष्टिसे समाजका एक रूपसे विकास तथा उसे समान आदर्शसे अनुप्राणित करते रहना ही था। सच तो यह है कि हमारा विगत इतिहास देखें तो अपने इस प्रयासमें वे बहुत दूरतक सफल रहे थे। हिन्दू जाति अपने इसी सांस्कृतिक आयोजनकी पृष्ठभूमिके संपर्क एवं सम्यक् ज्ञानके कारण संसारकी एक विशिष्ट सांस्कृतिक जाति बनी हुई है। यही एक कारण है कि हमारी संस्कृतिपर इतने प्रहार हुए फिर भी आजतक वह जिन्दी है।

निःसंदेह इस सुशील मर्यादाके साथ व्यक्तित्वके समुचित विकासका जो महानतम लक्ष्य था, वह उनकी दूरदर्शिता एवं विवेकशीलताका पूर्ण रूपेण परिचायक था।

नैतिक प्रयोजन

कुछ लोग संस्कारोंकी प्रक्रियाको केवल एक ढोंग मानकर चल रहे हैं। किन्तु यह एक चिरन्तन सत्य है कि कालक्रमसे संस्कारोंके भौतिक स्वरूपके साथ ही साथ उसकी नैतिक पृष्ठ भूमिका उदय एवं पूर्णरूपेण विकास हुआ था। महर्षि गौतमने अपने मतके अनुसार चालीस संस्कारोंकी लम्बी सूची गिनानेके पश्चात् अष्ट मानवीय गुणोंकी गणना भी की थी, वे गुण क्रमशः इस प्रकार हैं। दया, क्षमा, अनसूया, शौच, शम, उचित व्यवहार, निरीहता तथा निर्लोभता। ꣵ

इन्हीं अष्ट मानवीय गुणोंके महत्वका वर्णन करते हुए उन्होंने आगे लिखा है– 'जिस व्यक्तिने चालीस संस्कारोंका अनुष्ठान तो किया है, किन्तु उसमें यदि उक्त आठ आत्मगुण नहीं हैं तो वह ब्रह्मका सान्निध्य नहीं पा सकता। किन्तु जिस व्यक्तिने केवल कतिपय संस्कारोंका ही अनुष्ठान किया है और जो आत्माके उक्त आठ गुणोंसे सुशोभित है, वह ब्रह्मलोकमें ब्रह्मका सान्निध्य प्राप्त कर लेता है।' ❀

नैतिक मर्यादाओंके निर्धारणमें भी हमारे महर्षियोंने अत्यन्त बुद्धिमानीका कार्य किया था। उन्होंने संस्कारोंको अपने आपमें पूर्ण रूपेण उद्देश्य कभी भी नहीं माना था। उन्होंने सदैव फल-फल कर नैतिक सद्गुणोंके रूपमें परिपक्व हो जानेकी अपेक्षा की, जो पूर्णरूपेण सत्य मर्यादासे रंजित थी। इसीलिए उन्होंने संस्कारोंमें जीवनके हरएक सोपानके लिए व्यवहारके सामान्य धर्म (नियम) निर्धारित कर दिये थे। उदाहरणार्थ, गर्भिणीधर्म, अनुपनीतधर्म, ब्रह्मचारीधर्म, स्नातकधर्म, वानप्रस्थधर्म आदि निर्धारित कर दिए गए थे। इन धर्मोंमें अनेक बातें धार्मिक एवं अंधविश्वासको भी घर कर गई हैं, परन्तु उन सबके ही पीछे व्यक्तिके नैतिक पुनरुत्थान और विकासका प्रयत्न प्रत्यक्ष ही है।

पं. श्रुतिशीलजीशर्माने संस्कारोंके इसी प्रयोजनको लक्ष्य करके एक पते की बात एक बार कही थी–' यदि हमारे ऋषियोंका संस्कारोंका विधिविधान बनाना, नैतिक पुनरुत्थानकी दिशामें सोचना और उसी दिशामें मानव मात्रको प्रवृत्त करना नहीं होता, तो शायद हमारी संस्कारप्रणाली अभीतक समाप्त ही होजाती, क्योंकि दिन पर दिन मानव तर्क और बुद्धिसे नित नयी बातें सोचता जारहा है।'

पं. जीके उक्त कथनमें एक शाश्वत सत्यता छिपी हुई है। यदि संस्कारों द्वारा नैतिक पुनरुत्थानकी प्रक्रिया पूरी नहीं होती, तो उन्हें कौन बुद्धिजीवी अपनाता। संस्कारोंका यह प्रयोजन निश्चित रूपसे संस्कारों द्वारा प्राप्त होनेवाले दिव्यतम वैयक्तिक हितोंके साथ ही साथ उसकी उच्चतम नैतिक प्रगतिको भी पूर्णतया पोषित करता रहा है। यही एक मात्र कारण है कि इतने वितण्डावादी युगमें भी संस्कार पद्धति अंशतः जीवित है। जिसे जीवित रखनेका प्रमुख श्रेय उसके महत्वपूर्ण नैतिक प्रयोजनके कारण ही है।

कितना अच्छा हो भारतीय संस्कृतिके विद्यार्थी गण इस महत्वपूर्ण विषयपर परिश्रमपूर्वक अनुसंधान करें।

सांस्कृतिक प्रयोजन

हमारे मेधावी पूर्वजोंने संस्कार प्रणालीके उदय एवं विकासके साथ साथ उसी समय सांस्कृतिक दृष्टिसे भी दिव्यानुभूतियोंका उसमें समावेश करनेका प्रयत्न किया था।

ꣵ गौतम धर्मसूत्र ८।२४ ❀ बौ. म. सं. ८।२५

यही कारण है कि महान् लेखकों और विधि निर्माताओंने उनमें उच्चतर धर्म और पवित्रताका पूर्ण रूपेण समावेश करनेका पूरा पूरा प्रयत्न किया है। यही कारण है कि विद्वानोंने इस प्रयोजनकी खूब प्रशंसा की है।

महर्षि मनु कहते हैं कि- " गार्भहोम (गर्भाधानके समय किये जानेवाले हवन), जात कर्म, चूडाकर्म (मुण्डन) और मौञ्जीबंधन (उपनयन) संस्कारके अनुष्ठानसे द्विजों के गर्भ तथा बीज संबंधी दोष दूर होजाते हैं ● इसी प्रकरण को स्पष्ट करनेके उद्देश्यसे एक महत्वपूर्ण बात भी कही है। वे कहते हैं- " द्विजोंको गर्भाधान आदि शारीरिक संस्कार वैदिक कर्मोंके साथ करने चाहिए, जो इहलोक तथा परलोक दोनोंको पवित्र करते हैं। + "

लोगोंके मनमें यह सहज विश्वास जमा हुआ है कि बीज, गर्भाधान, गर्भपात स्त्रीसंयोग अपवित्र और अशुद्ध कर्म है। जो कि संस्कारोंके समय विशेष अनुष्ठान करनेसे करीब करीब प्राय; नष्ट हो जाते हैं। इसी सहज विश्वासके परिणाम स्वरूप संस्कारोंके साथ कर्मकाण्डीय व्यवस्था भी खूब चलती रही है। वैसे भी शरीरकी शुद्धिके लिए उसे संस्कारित करनेकी भावना जन साधारणमें रहती है, जिसका नामकरण कालान्तरमें बदलतासा गया है। इसी भावनाका प्रतिपादन महर्षि मनुके इस निर्देशमें मिलता है—

" स्वाध्याय, व्रत, होम, देव और ऋषियोंके तर्पण, यज्ञ, सन्तानोत्पत्ति, इज्या व पञ्चमहायज्ञोंके अनुष्ठानसे यह शरीर ब्राह्मी (ब्रह्म प्राप्त करनेके योग्य) होजाता है। ※

इस भावनाका प्राधान्य भी था, कि जन्मसे ही प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है, उसे पूर्ण रूपसे विकसित आर्य होनेके लिए उसको संस्कारित एवं परिमार्जित करनेकी आवश्यकता भी अनुभव की गई थी। इसी महती आवश्यकताके प्रतिपादनार्थ भगवान् मनुने कहा है- ' जन्मसे प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है, उपनयनसे वह द्विज कहलाता है, वेदोंके अध्ययनसे वह विप्र बन जाता है और ब्रह्मके साक्षात्कारसे उसे ब्राह्मणकी स्थिति प्राप्त होजाती है। " ×

यदि अच्छी तरहसे देखा जाए तो सामाजिक विशेषाधिकार तथा सामान्य अधिकारोंका भी संस्कारोंके साथ गठबंधन था। जैसे कि उपनयन संस्कार द्विजोंका विशेष अधिकार था। 卐 जो कि शूद्रोंके लिए वर्जित था। उपनयन संस्कारकी प्रक्रिया द्वारा ब्रह्मचारी समाज और उसके धार्मिक साहित्यमें प्रवेश पानेका उपक्रम करता था। ठीक इसी प्रकारसे विद्यार्थी जीवनकी पूर्णता और गृहस्थाश्रममें प्रवेश प्राप्त करनेके लिए समावर्तन संस्कार द्वारा संस्कारित अनुष्ठान किया जाया करता था। इस प्रकार सामाजिक धर्मोंमें संस्कारों द्वारा एक महत्वपूर्ण योग दिया जाता रहा है।

सांस्कृतिक दृष्टिसे एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति भी था। क्योंकि जब आर्योंकी दृष्टि आध्यात्मिक तत्त्वोंपर गई और दीर्घसत्रोंका चलन समाप्त प्रायः हो चला, तो केवल देवोंका आराधन और सामान्य यजन ही स्वर्ग-प्राप्तिके अमोघ साधन समझे जाने लग गए। इसी कालमें संस्कारोंको भी जो कि इस कालसे पूर्व केवल गृहकृत्य माने जाते थे, अब बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त होने लग गया। इस तथ्यको समझनेके लिए महर्षि हारीतके ये शब्द चिन्तनीय हैं। संस्कारोंके प्रयोजनका वर्णन करते हुए वे कहते हैं— " बाह्य संस्कारोंसे संस्कृत व्यक्ति ऋषियोंकी स्थितिको प्राप्त कर उनके समान हो जाता है और उनके निकट निवास करता है तथा दैव संस्कारोंसे संस्कृत व्यक्ति देवोंकी स्थितिको प्राप्त कर लेता है। " ▲

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवजीवनका चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्तिको ही स्वीकार कर लिया गया था। अतः संस्कारोंको भी स्वभावतः उसीकी प्राप्तिका एक महत्वपूर्ण साधन समझा जाने लग गया था! यही कारण है कि तत्कालीन विचारधारामें ' स्वर्गकामो यजेत ' की भावनाका ही प्राधान्य स्पष्ट नजर आता है। इसी भावनासे अति रंजित होकर महर्षि शंखलिखितने लिखा है- " संस्कारोंसे संस्कृत तथा आठ आत्मगुणोंसे युक्त व्यक्ति ब्रह्मलोकमें पहुंचकर ब्राह्म पदको प्राप्त कर लेता है, जिससे वह फिर कभी च्युत नहीं होता। " ●

इसी प्रकार प्रत्येक संस्कारके साथ महर्षियोंने कुछ न कुछ विशेष सांस्कृतिक प्रयोजनोंको गुम्फित किया था, जो युगोंकी आंधीमें धीरे धीरे समाप्त प्रायः या विलुप्त प्रायः होते ही गए। ● ● ●

● गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जी निबन्धनैः। बैजिकं गार्भिकञ्चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ म. स्मृ. २।२७

+ वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्। कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ म. स्मृ. २।२६

※ स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ म. स्मृ. २।२८

× जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते। वेदाभ्यासी भवेद्विप्र ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ॥ मनुस्मृति

卐 अशूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्। आप. ध. सू १।१।१६

▲ वी. मि. सं. भा. १ पृष्ठ १३९ पर उद्धृत।

● संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरनुसंस्कृतः। नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्राह्मलौकिकः।
ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः ॥ वी. मि. सं. भा. १ पृष्ठ १४२ पर उद्धृत।

प्रचारः परमो धर्मः या आचारः परमो धर्मः ?

(लेखक— श्री प्रो. दिलीप वेदालंकार, M. A. आर्यकन्या महाविद्यालय, बड़ौदा)

किसी भी संगठन, चाहे वह राजनैतिक हो या सामाजिक, धार्मिक हो या सांस्कृतिक, के उत्थान और पतनके इतिहास-को विवेचनाकी दृष्टिसे पढ़ें तो हम इस परिणाम पर पहुंचे बिना नहीं रह सकते कि इन दोनों दशाके कारणोंमें उस संगठनके पदाधिकारियोंके और नेताओंके चरित्रका बहुत ऊंचा स्थान है। यहां चरित्र शब्द बहुत ही विस्तृत अर्थमें प्रयुक्त किया गया है। संसारका अनुभव बतलाता है कि यदि किसी समाज या देशके नेताओंमें चरित्र बल न हो अर्थात् लोकहितकी भावना निर्बल और स्वार्थकी भावना प्रबल हो, तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि वह समाज और देश लक्ष्यभ्रष्ट होजाता है।

आर्यसमाजके इतिहासमें वह भी एक समय था जब कि दयानंदके जादूने सैंकड़ों विलासितामें डूबे हुए लक्ष्मीपति-योंको चरित्रवान् बना दिया था। हजारों धर्मभूलोंको धर्म-रक्षक बना दिया था। किन्तु आज वह केवल इतिहासकी वस्तु बनती जा रही है। यह एक कटु सत्य है कि आज हम उस त्याग, उत्साह और लगनसे दूर भागते जा रहे हैं जो हमसे पूर्वके समाजियोंमें था।

इतिहास कह रहा है कि रोमके पतनके दिनोंमें देखने-वालोंको यह देखकर दुःख और आश्चर्य होता था कि जिस कवचको पहनकर रोमका योद्धा युद्ध क्षेत्रमें विजयी होता था, तीसरी या चौथी पीढ़ीके लिये वह कवच उठाना असम्भव हो गया था। कहते हैं पदों और अधिकारोंके लिए आपसमें लड़-लड़ कर रोमके नेताओंने साम्राज्यकी जड़ें ही हिला दी थीं। इस घटनाके उतार-चढ़ावको देखते ही मुझे आर्यसमाजके वे दिन याद आ रहे हैं जबकि अदालतमें साक्षी देनेके लिये एक आर्यसमाजीका उपस्थित होना मात्र सत्यके लिये पर्याप्त माना जाता था। आज हमारी इससे सर्वथा भिन्न स्थिति है।

आज हमारे समारोहोंमें उपस्थित जिज्ञासु और ज्ञान-पिपासु जनताके असीम उत्साहको देखकर जितनी प्रसन्नता होती है उससे अधिक हमारे नेताओंके व्यक्तिगत जीवन, पारस्परिक असंगठन एवं कलहको देखकर दुःख होता है। जिस आर्यसमाजका विश्वभरकी सामाजिक संस्थाएं लोहा मानती हैं जिसके प्रभाव व शक्तिसे देशके राजनैतिक दल भी घबराते हैं, आज उसकी यह अवस्था है ? सचमुच ! 'इस घरको आग लग गई, घरके चिरागसे', जो आर्यसमाज विश्वको आर्य बनानेकी बातें करता है, देशके परिष्कारकी योजना बनाता है, जो आर्यसमाज हिन्दू जातिके असंगठन पर आंसू गिराता है वह आर्यसमाज आज वस्तुतः निर्बल होता जा रहा है। जो अपनेको ऋषि दयानंदका शिष्य या वैदिकधर्मी कहते हुए गर्व अनुभव करते हैं, वे विचार करें कि वास्तवमें वे वैदिक विचार-धारा पर कहांतक आचरण कर रहे हैं ? आज सोचें कि हम कहां हैं ? आज स्थिति तो यह है कि ऋषिकी भावना विचारधारा और इच्छायें पुकार रही हैं की हमारा रक्षक कौन है ? चारों ओर वैदिक आदे-शोंका गला घोंटा जा रहा है— सत्य तो यह है कि वह भी हमारे द्वारा ही। आज ' आचारः परमो धर्मः ' का स्थान " प्रचारः परमो धर्मः " ने ले लिया है हम चाहे कुछ करें, हमारा वक्तव्य और विवेचन धर्मानुकूल होना चाहिए।

यह ठीक है हमारे सम्मेलन और उपदेश मानवजातिका कल्याण करेंगे, विश्वको शांतिका संदेश देंगे, पर नगर-नगर और गांव-गांवमें— आर्यसमाजोंमें जो फूटका विष फैल रहा है उसकी चिकित्सा हमारे पास नहीं है ? सर्वजन-हिताय और सर्वजनसुखायका मंत्रदाता आर्यसमाज आज जन दृष्टिमें हास्यास्पद बन रहा है। आर्यसमाजको कार्यशक्ति और धनशक्ति निर्माणकी अपेक्षा आज परस्पर संहारमें लग रही है। हां, इसका निदान हमारे पास ही है। हमें स्मरण रखना होगा कि संगठन समाजका शरीर है और चरित्र उसकी आत्मा है, यह ठीक है कि शरीर स्वस्थ और दृढ़ होना चाहिए परंतु यदि स्वच्छ आत्मा न हो तो शरीर अपने तथा दूसरोंके अहितका कारण बन सकता है। हम आत्म निरीक्षण करें और निष्पक्षभावसे यथायोग्य आच-रण करें। यह स्पष्ट है कि यदि हम चाहते हैं कि सामान्य लोग संगठित हों, नैतिक बलसे युक्त हों और निःस्वार्थ

सौ वर्षका पंचांग

इस सौ वर्षके पंचांगमें वर्ष, मास, तारीख अन्य देशोंका समयचक्र तथा ज्योतिष्चक्र सभी की गणना उत्तम रीतिसे और बिल्कुल ठीक ठीक की है। यह एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन है। सीमित प्रतियां ही शेष हैं। आफिस, स्कूल, घर और पुस्तकालयोंके लिए अत्यन्त लाभदायक एवं उपयोगी है।

मूल्य ५.०० पांच रुपया, रजिस्ट्री द्वारा ६.००

लिखिए—

कोचीकार एजेन्सी, ८।४८६ टी. डी.
डब्ल्यू गेट, पो. बॉ. नं. १३३. कोचीन-२

सेवी हों तो सर्वप्रथम समाजके नेताओंको भी वैसा ही बनना पडेगा।

महाभारतमें एक स्थान पर कहा है कि धर्मशास्त्रके चक्करमें न पडकर सामान्य व्यक्तिके लिये कर्तव्य जाननेका एक यह भी मार्ग है कि " महाजनो येन गतः स पन्थाः " अर्थात् सामान्य मनुष्य अपनेसे ऊंचे दर्जेके मनुष्योंको जो कुछ करते हुए देखता है, उसीको धर्म मानकर वैसा ही करने लगता है। भगवद्गीतामें ठीक ही कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

अर्थात् ऊंचे दर्जेके लोग जैसा आचरण करते हैं, साधारण लोग उसीको प्रमाण मानकर वैसा अनुकरण करते हैं। इस कारण यह कहना सर्वथा सत्य है कि ऊंचे पुरुषोंका दृष्टांत सर्व साधारणके लिये सबसे बडा धर्मशास्त्र है।

अतः यह स्पष्ट है कि यदि हम चाहते हैं कि सभी सच्चे आर्य हों, वेद धर्मानुयायी हों, तो समाजके नेताओंको भी सपरिवार वैसा ही बनना पडेगा। एक ऋषिके ही व्यक्तित्व और कृतित्वने सहस्रों वेदधर्मी उत्पन्न कर दिये वहां आचारकी शक्ति ही तो कार्य कर रही थी?

आज आर्यजगत्में नेतृत्वका प्रश्न भी अत्यन्त विकट है। आर्यसमाजका सर्वसम्मत नेता कौन? इस प्रश्नका उत्तर देना बडा ही कठिन है। एक समय था जब हमारे पास चोटीके सर्वमान्य नेता थे। आज हमारा नेतृत्व सस्ता एवं दलबन्दी-प्रधान होगया है। तपस्वी, कर्मठ, सत्यनिष्ठ, एवं त्यागी व्यक्तिओंका लोप होता जा रहा है।

यह सर्व विदित है महर्षिने समाजका संगठन निर्वाचन पद्धति पर किया था। परन्तु आज हमारे निर्वाचनमें धार्मिकता तथा सिद्धान्तवादको कोई स्थान नहीं है। यही कारण है कि आज अनेकों विद्वान् और योग्य आर्यमहानुभाव यह सोचकर मौन हैं कि—

दर्दुरा यत्र वक्तारस्तत्र मौनं हि शोभनम्।

इतना ही नहीं, आज हमारे प्रचारमें पहले जैसा प्रभाव और आकर्षण प्रतीत नहीं होता है। महर्षिने आजसे ८९ वर्ष पूर्व आर्यसमाजकी स्थापना की थी। हमारा आदिपर्व गति और कार्य दोनों ही दृष्टिसे सफल कहा जा सकता है। किन्तु आज हमारी स्थिति और गति दोनोंमें ही पर्याप्त शिथिलता आगई है जिसे प्रत्येक आर्य अनुभव कर रहा है। आर्यसमाजमें पहले जिस प्रकार नवयुवक और नवयुवती आकृष्ट होते थे, वह स्थिति आज नहीं रही है। आर्यसंस्थाओं और गुरुकुलोंसे निकलनेवाले छात्र-छात्राओंका भी (अपवादको छोडकर) ऋषि दयानन्द और आर्यसमाजके प्रति प्रेम तथा आर्यसंस्कृतिके प्रति आस्था कम होती जा रही है।

यदि नई पीढी हमारे समाजकी ओर आकृष्ट नहीं होती तो वर्तमान आर्य महानुभावोंकी अनुपस्थितिमें आर्यसमाज के लिए गम्भीर समस्या उपस्थित हो जाएगी। यह भी सर्वविदित है कि आर्यसमाजमें विद्वत्ताका स्तर भी निरन्तर गिरता जा रहा है। वर्तमान पीढीके विद्वानोंमें भी (अपवादको छोडकर) पुराने विद्वानोंके समान शास्त्र विषयक मौलिक ज्ञानका अभाव है। स्वाध्यायकी प्रवृत्ति हममेंसे लुप्त होती जारही है।

यह अवस्था है आज आर्यसमाजकी। क्या इसका निराकरण हमारे पास है? मैं समझता हूं अवश्य है। हमें ' प्रचारः परमो धर्मः ' से पूर्व ' आचारः परमो धर्मः ' को अपनाना होगा। ईर्ष्या और द्वेषको छोडकर संगठित होना और प्रतिदिन पाठ किए जानेवाले सन्ध्याके उस मंत्र (योऽस्मान् द्वेष्टि) का गंभीरतापूर्वक मनन करना होगा। यह स्मरण रखना होगा कि वही संसारको संगठनका उपदेश दे सकता है जो स्वयं संगठित हो। वही व्यक्ति दूसरोंको धर्मोपदेश दे सकता है जो स्वयं आचरण करता हो। आचार-प्रधान धर्म ही ऋषिका सन्देश था।

आर्य महानुभावोंसे मेरा विनम्र निवेदन है कि वे मौन और उदासीको छोडकर इसपर गंभीरतापूर्वक विचार करें।

कुछ पुराणोंके आधारपर :

प्राचीन गोपालन–व्यवस्था ?

(लेखक— श्री रवीन्द्र अग्निहोत्री एम्. ए., १६, केलाबाग, बरेली)

★

हमारे पूर्वजोंने शरीर और मस्तिष्क दोनोंका सर्वोत्तम ढंगसे पोषण करनेवाले आहारि साधनके रूपमें गायको राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था और शिक्षा प्रणाली दोनोंका केन्द्र स्वीकार किया था। उस समयकी शिक्षा केवल पुस्तकों पर ही निर्भर नहीं थी, उससे व्यावहारिक जीवनका अनुभव प्राप्त होता था। उसका सम्बन्ध जीवन और प्रकृतिकी वास्तविकताओंसे जोड दिया था जिसमें उसके अनुयायियोंको बढना और पनपना पडता था। इसीलिए उन दिनों गृहस्थ परिवारोंमें ही नहीं, गुरुकुलोंमें भी बडी बडी संख्यामें गाएँ रखीं जाती थीं।

'गर्ग संहिता' में बतलाया गया है कि जिसके पास ५ लाख गाएँ हों उसे 'उपनन्द', जिसके पास ८ लाख हों उसे 'नन्द', जिसके पास १० लाख हों उसे 'वृषभानु' और जिसके घरमें १ करोड गाएँ हों उसे 'नन्दराज' कहते थे। महाभारतके विराट्पर्वमें कहा गया है कि महाराज युधिष्ठिरके यहाँ गायोंके १० वर्ग थे। प्रत्येक वर्गमें ८–८ करोड गाएँ थीं। इनका अध्यक्ष 'गोसाव' कहलाता था। महाराज विराट्के यहाँ भी लाखों गाएँ थीं जिन्हें हरण करनेका कौरवोंने यत्न किया था। जैन ग्रन्थोंमें बतलाया गया है कि उनके अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामीके उपासकोंके पास हजारों गाएँ थीं। दस हजार गायोंके समूहको एक 'व्रज' या 'गोकुल' कहा जाता था। कई लोगोंके पास ऐसे अनेक गोकुल थे। सेठ धनंजयने अपनी पुत्रीके विवाहमें इतनी गाएँ दी थीं, जो तीन कोसकी लम्बाई और १५० हाथकी चौडाईमें सटकर खडी हो सकें। उन्हें इस लम्बाई–चौडाईमें घेर कर खडे होने पर भी लगभग साठ हजार गाएँ और उतने ही बछडे निकल भागे। इतनी गायोंको रखनेके लिए कितनी व्यवस्था करनी पडती होगी, यह विचार करने योग्य है।

'स्कन्द पुराण' में बतलाया गया है कि 'गोगृह' सुदृढ, विस्तीर्ण तथा समान स्थलवाला होना चाहिए। उसमें ठंडी, तेज हवा, तेज धूप, रात्रिमें ओस, वर्षामें पानी आदिकी पूरी रुकावट होनी चाहिए और बालूसे उसकी भूमि कोमल बना देनी चाहिए। (घरोंमें सीमेंटके फर्श पर गायोंको पालकर गर्वका अनुभव करनेवाले सज्जन जरा ध्यान दें।) शरीरकी खुजलाहट मिटानेके लिए बहुतसे स्तम्भ होने चाहिए। खूँटोंका ऊपरी भाग नुकीला न होना चाहिए जिससे उनके स्पर्शसे क्लेश न हो। उनमें मुलायम रस्सियाँ लगी रहनी चाहिए। (आजकल रामबाँस, सन या सूतकी रस्सी प्रयोगमें आ सकती है। लोहेकी जंजीरें, जूट और नारियलकी रस्सीका प्रयोग ठीक नहीं।) मच्छर आदि हटानेके लिए धुएँ आदिका प्रबंध रखना चाहिए। बैठनेके लिए पर्याप्त स्थान होना चाहिए। पानीके लिए कुएँ, कुंड, जलाशय आदि रहने चाहिए। कूडा साफ करनेके लिए सेवकोंका प्रबंध होना चाहिए। पर्दे, छाया, चारा, पानी आदिकी भी व्यवस्था रखनी चाहिए। गोशाला सुन्दर प्राकार तथा द्वारोंसे सुशोभित होनी चाहिए।

'पद्म पुराण' में बतलाया गया है कि समझदार व्यक्तिको चाहिए कि वह गोष्ठको अपने सोनेके कमरेकी तरह साफ सुथरा रखे। गौको सामान्य प्राणी न समझ अपने प्राणोंके समान देखना चाहिए।

'ब्रह्म पुराण' का कहना है कि गोबर और मूत्रसे कभी घृणा न करनी चाहिए। सूखे चूनेसे गोशाला साफ रखनी चाहिए। गर्मियोंमें ठंडे पेडोंकी छायामें, जाडेमें बिना कीचडके

घरमें, वर्षा और शिशिरमें थोडे गर्म और जोरकी हवा न आनेवाले गोष्ठोंमें गायोंको रखना चाहिए। गोशालामें किसी भी प्रकारका मल नहीं छोडना चाहिए। गोष्ठके समीप खेल कूदकर गायोंको तंग नहीं करना चाहिए। जूता पहनकर गायोंके पास जाना उचित नहीं। (मेरे एक मित्रने, जो 'नेवी' में एक उच्च अधिकारी हैं, अपनी विदेश यात्राका विवरण सुनाते हुए बताया कि जापानमें जब वह 'डेरी' देखने गए, तो वहाँ द्वार पर ही जूते उतरवा दिए गए। भीतर जानेके लिए डेरीमें रखे एक विशेष प्रकारके कपडेके जूते पहनाए गए। डेरीमें केवल गाएँ थीं, भैंसें नहीं। अन्य भी अनेक डेरियोंमें वह गए और प्रायः सर्वत्र ही जूतोंका परिवर्तन उन्हें करना पडा।)

एक डेरीके मैनेजरसे उन्होंने जूतोंके परिवर्तनके सम्बन्धमें आखिरकार प्रश्न कर ही दिया। उसने साश्चर्य उत्तर दिया- 'भारतवासी होकर भी आप इतनीसी बात नहीं जानते! आप-के जूतोंमें सडककी गर्द तथा मल लगा रहता है। आप जिस घास पर डेरीमें चले हैं, यह घास गौओंका चारा है। आपके जूतेकी गन्दगी इस घास पर लगकर गायोंके पेटमें पहुंचकर दूधको दूषित करती है और गायोंको अस्वस्थ।' पश्चिमकी आधुनिक सभी गोशालाओंमें प्रायः यह नियम है कि जूता पहन कर कोई भीतर नहीं जा सकता, क्योंकि इससे रोगके कीटाणुओंके फैलनेका भय रहता है। ('प्रायः' शब्दका प्रयोग मैंने इस संबंधमें अपनी अल्पज्ञताके कारण किया है।)

रोगी या दुबली पतली गायोंका माता पिताकी तरह पालन पोषण करना चाहिए। स्वप्नमें भी उनके ताडनका, उनके प्रति क्रोध दिखलाने या खेद करनेका भाव न होना चाहिए। रातमें वहाँ दीपक अवश्य जलाना चाहिए तथा उन्हें वीणा आदिका मधुर वाद्य सुनाना चाहिए। (आजकल भी यह माना जाता है कि दुहते समय गायोंको संगीत सुनानेसे दूध अधिक निकलता है। मेरे उक्त मित्रने ही बताया कि विदेशोंमें जितनी गोशालाएँ उन्होंने देखीं, सभीमें रेडियो लगे पाए जो गोदोहनके समय विशेष रूपसे बजाए जाते हैं।) दुहनेमें बडी सावधानी रखनी चाहिए। एक मास तक गाय तथा बछडेको तथा दो मास तक बछडे-को दूध पिलाना चाहिए। तीसरे माससे केवल दो थन दुहने चाहिए और चौथे माससे तीन थन दुहने चाहिए।

'देवी पुराण' में बताया गया है कि जो गऊ और बछडे-को ताडन कर अथवा मृतवत्सा गायके बछडेकी खालमें भूसा भरकर बराबर दुहता है वह सदा क्षुधार्त रहता है।

'अग्नि पुराणमें गायोंके विभिन्न रोगोंकी चिकित्सा बताई गई है। यद्यपि 'गो चिकित्सा' पर इस समय कोई स्वतंत्र प्राचीन, पूर्ण ग्रंथ उपलब्ध नहीं, पर कुछ ग्रंथ अवश्य बने हुए हैं। पांडुपुत्र नकुल 'गवाश्व चिकित्सा शास्त्र' के प्रणेता कहे जाते हैं। पुराण तथा आयुर्वेद ग्रंथोंमें भी गोचिकित्साके कई नुस्खे मिलते हैं। महाराज अशोकके गिरनारवाले शिला-लेखमें कहा गया है— 'सर्वत्र राज्यमें, सीमा प्रदेशोंमें और पडोसके राज्योंमें दो प्रकारकी चिकित्साका प्रबंध होना चाहिए; एक तो मनुष्यकी, दूसरी पशुओंकी, जहाँ जडी-बूटियाँ तथा औषधियाँ नहीं होती, वहाँ दूसरी जगहसे लाकर लगाई जाँय।'

नस्ल सुधारकी ओर भी ध्यान था; संभवतः इसीलिए 'वृषभदान' का बडा पुण्य बतलाया गया है। 'मत्स्य पुराण' के अनुसार यह वृषभ या साँड ऐसा होना चाहिए जिसके स्कन्ध उन्नत, पूँछ सीधी तथा रोएँदार, आंखें चम-कीली, पीठ चौडी, १८ सुन्दर दाँत हों और उसकी माता अधिक दूध देनेवाली हो। वह महाबली, पराक्रमी हो, मेघों-की तरह गरजता हो और मस्त मातंगकी तरह चलता हो। सौ-सौ गायोंके वृन्दका 'वीर्यदाता', 'यूथपति' तथा 'इन्द्रियोपेत' (महान् वीर्यशक्तिसम्पन्न) साँडको 'गवेन्द्र' पदसे विभूषित किया जाता था। महाभारतके एक प्रसंगके अनुसार सहदेवने राजा विराट्को बतलाया कि मैं उत्तम लक्षणोंवाले ऐसे साँडोंको पहचान सकता हूँ जिनका मूत्र सूँघने मात्रसे बन्ध्या स्त्री को भी गर्भ रह सकता है। सौ गायोंके पीछे चार साँड रखनेकी व्यवस्था थी। इनका पालन-पोषण उत्तम ढंगसे होता था। वृषोत्सर्गकी रीति बडी पुरानी है। आश्विन या कार्तिक पूर्णिमाको साँड छोडनेकी विधि है। उत्सर्ग किया हुआ वृषभ मौजसे विचरता था और उसे खानेसे रोकनेमें पाप बतलाया गया है।

'स्कन्द पुराण' में लिखा है कि वृष अन्नको उत्पन्न कर तृण चरते हैं, सबको ले जाते हैं, भारसे खिन्न होने पर भी किसीसे कुछ नहीं कहते। सचमुच, जीवलोक इन्हींसे जीवित है।

उत्पाद्य सस्यानि तृणं चरन्ति,
तदेव भूयः सकलं वहन्ति।
न भारखिन्ना प्रवदन्ति किंचि-
दऽहो वृषैर्जीवति जीवलोकः॥

महामुनि पराशरकृत कृषिसंग्रहमें लिखा हुआ है कि खेती ऐसी करनी चाहिए जिसमें वाहनोंको पीडा न हो। इसमें

कितने बैल जोतने चाहिए यह भी बतलाया गया है। आठ बैलोंको जोतनेवाला 'धर्मी', छः बैलोंको जोतनेवाला 'व्यवसायी', चार बैलोंको जोतनेवाला 'नृशंस' और दो बैलोंको जोतनेवाला 'गवाशन' अर्थात् गोभक्षक, बतलाया गया है। 'अत्रि संहिता' के अनुसार हल पीछे आठ बैल हों तो दिन भर, छः बैल हों तो तीन पहर, चार बैल हों तो दो पहर और दो बैल हों तो केवल एक पहर जोतना चाहिए। 'पराशर संहिता' के अनुसार भूखे-प्यासे, थके-मॉंदे और अङ्गभङ्ग बैलोंको जोतना पाप है।

उक्त सभी ग्रन्थ हमारे अतीतके मध्यकाल तथा निकट भूतकालकी ही झांकी प्रस्तुत करते हैं, प्राचीन वैदिक युगकी नहीं। फिर भी इस युगमें भी गोपालनकी कैसी उदात्त परम्परा प्रचलित थी, इसका दर्शन हमने इस लेखमें किया। हमारी प्रेरणाके लिए, वर्तमान स्थितिको सुधारनेके लिए यहाँ भी पर्याप्त सामग्री है। गोधनके संरक्षण और उसके संगठनका विवरण महाराज चन्द्रगुप्तके प्रधानमंत्री आचार्य चाणक्य कृत 'अर्थशास्त्र' के 'गोऽध्यक्ष' प्रकरणमें मिलता है।

महात्मा चाणक्यकृत 'अर्थशास्त्र' के 'गोऽध्यक्ष' प्रकरणमें गोपालन एवं गोरक्षाकी सरकारी व्यवस्था बताई गई है। उन्होंने इस सम्बन्धमें वेतनोपग्राहिक, कर प्रतिकर, भग्नोत्सृष्टक, भागानुप्रविष्टक, व्रजपर्यग्र, नष्ट, विनष्ट और क्षीरघृतसंजात— ये आठ उपाय सरकारी व्यवस्था और निरीक्षणके लिए निश्चित किए हैं।

(१) वेतनोपग्राहिक— गोपालक, पिण्डारक— भैंसोंको पालनेवाले, दोहक-दूध दुहनेवाले, मन्थक-दही आदि मथनेवाले और लुब्धक-वनोंमें हिंसक प्राणियोंसे रक्षा करनेवाले-ये पाँच-पाँच आदमी मिलकर सौ-सौ गायोंका पालन करें। इनका वेतन नकद या अन्न वस्त्र आदिके रूपमें दिया जाय। दूध, दही घृत आदिमें इनका कोई हिस्सा न रहे, क्योंकि- 'क्षीरघृतभृता हि वत्सानुपहन्युः' यदि दूध-घी आदिमें इनका हिस्सा रखा जायगा तो संभव है ये लोग लालचमें पड़कर बछड़ोंको भूखा रखें।

(२) करप्रतिकर— बूढ़ी, गाभिन, दूध देनेवाली, पहली ब्यातकी और वत्सतरी अर्थात् जिसने हाल हीमें दूध देना छोड़ा हो— इन पाँचों प्रकारकी गायोंको बराबर-बराबर मिलाकर पूरा सौ कर दिया जाए (अर्थात् बूढ़ी, गाभिन दूध देनेवाली आदि प्रत्येक वर्गकी बीस-बीस) और उनका किसी एकको ठेका दे दिया जाय। वह उनके स्वामीको प्रतिवर्ष आठ 'वारक' घी, प्रत्येक पशुके लिए एक 'पण' और मरे हुए पशुका चमड़ा देता रहे। चमड़े पर सरकारी मुद्राका होना नितांत अनिवार्य था ताकि यह निश्चय रहे कि पशु मरा हुआ है मारा हुआ नहीं।

(३) भग्नोत्सृष्टक-बीमार, अपंग, अंगभंग, केवल एक ही व्यक्तिसे दुही जानेवाली और जिनका बछड़ा मर गया हो– इन पांचों गायोंको भी बराबर-बराबर मिलाकर पूरा सौ कर दिया जाय और उनका किसी एकको ठेका दे दिया जाय। वह उनके मालिकको प्रतिवर्ष चार 'वारक' अथवा कमसे कम ढाई 'वारक' घी, प्रत्येक पशुके लिए एक पण और सरकारी मुद्रासे अंकित मरे हुए पशुका चमड़ा देवे।

(४) 'परचक्राटवीभयाद्' अर्थात् शत्रुओंके छल या जंगली पुरुषों आदि किसी भी भयसे जब गोपालक अपनी गायोंको सरकारी बाड़ेमें भरती कर दे, तो आयका दसवाँ हिस्सा सरकारको दिया जाय। इस उपायको आचार्य कौटिल्यने 'भागानुप्रविष्टक' की संज्ञासे अभिहित किया है।

(५) व्रजपर्यग्र– छोटी तथा बड़ी बछिया, पठोरी अर्थात् पहले ब्यातकी, गाभिन, दूध देनेवाली, अधेड़ उम्रकी और बाँझ– इन सातों प्रकारकी गायोंके लिए सरकारी चरागाहोंमें रखनेका प्रबंध रहे जहाँ ये सरकारी चिह्नसे अंकित की जाँय। जो गाएँ सरकारी चरागाहोंमें प्रविष्ट की जाँय– चाहें एक मासके लिए चाहें अधिक समयके लिए– वे सब अंकित की जाँय। इनका अङ्कित चिह्न, रंग, सींग, आदिका पूरा विवरण सरकारी पत्रोंमें लिख लिया जाय और ये पत्र सावधानीसे रखे जायँ।

(६) चोरोंसे अपहरण किया हुआ, दूसरे गिरोहमें मिल गया हुआ, जङ्गलमें अपने गिरोहसे भटका हुआ 'नष्ट' गोधन कहलाता है।

(७) कीचड़में फँसने, गढेमें गिरने, बीमारी, बुढ़ापा, जलप्रवाहमें बह जाने, ऊपर वृक्ष गिर जाने, कगारके खिसक जाने, भारी शहतीर-शिला आदिसे दब जाने, बिजली गिरने, हिंसक व्याघ्र, सर्प, ग्राह आदिसे काटे जाने अथवा जंगलकी आगसे गाय नष्ट हो तो उसे 'विनष्ट' कहते हैं। ऐसी हानि यदि गोपालोंकी असावधानीसे हुई है तो उसे वे न केवल पूरा करेंगे वरञ्च दंडके भी भागी होंगे। यदि उनकी असावधानीसे नहीं बल्कि किसी अन्य कारणवश ऐसा हुआ है तो सरकार इसकी पूर्ति करेगी।

(८) क्षीरघृतसंजात– सामान्यतः एक 'द्रोण' गायके

दूधसे एक 'प्रस्थ' गायका घी निकलता है; पर विशेष भूमि, विशेष घास, विशेष जल, विशेष वनस्पति आदि खानपानकी विशेष व्यवस्थासे दूध और घीकी वृद्धि होती है। अतः सरकारका कर्तव्य है कि विशेष घास, विशेष वनस्पति आदि सर्वसुलभ बनानेका पूर्ण प्रयत्न करे।

इन आठ उपायोंके अतिरिक्त अन्य अनेक नियमोंका भी 'कुशलप्रशासक' चाणक्यने उल्लेख किया है। उन्होंने गऊको हर प्रकारसे अवध्य कहा है। गायको मारनेवाले या मारनेमें सहायता करनेवाले, गायका हरण करनेवाले या हरणमें मदद करनेवालेके लिए उन्होंने प्राणदण्डकी व्यवस्था दी है- 'स्वयं हन्ता घातयिता हर्त्ता हारयिता च वध्यः।' चोरोंसे अपहरण की हुई अपने ही देशकी गाय जो छुडाकर लाए उसे एक 'पण' पुरस्कार दिया जाय। दूसरे दूसरे देशोंकी गायों एवं अन्य पशुओंको चोरोंसे छुडाकर लाने या छुडानेवाला आधा हिस्सा ले सकता है। छोटे बछडे बीमार और बूढे पशुओंकी विपत्तिका बराबर प्रतीकार करते रहना और उन्हें सब कष्टोंसे बचाना गोपालकोंका परम धर्म है।

दूध दुहनेके विषयमें उन्होंने बताया है कि वर्षा, शरद् और हेमंत ऋतुओंमें गायोंको प्रातः सायं दोनों समय दुहा जाय, पर शिशिर, वसंत और ग्रीष्मकी ऋतुओंमें केवल एक ही समय दुहा जाना चाहिए। इन दिनों जो दोनों समय दुहे उसका अंगूठा काट दिया जाय। दुहनेवाला यदि ठीक समय पर दूध न दुहे, तो उसे उस दिनका वेतन न दिया जाय और यदि बिना पूर्व सूचना दिए अनुपस्थित रहे तो कठोर दण्ड दिया जाय।

यतिवर चाणक्यने अपने मंत्रित्वकालमें स्थान-स्थान पर चरागाहोंकी विशेष व्यवस्था की थी, जहां गोपालक अपनी गायोंको बेरोकटोक चरा सकते थे। सांप और हिंस्र प्राणियों को डरानेके लिए, चरनेकी जगह पहचाननेके लिए, शब्द सुनकर घबरा जानेवाले पशुओंके गलेमें लोहेका एक घंटा बांधना आवश्यक बताया है। उनकी व्यवस्थाके अनुसार यदि पशुओंको कहीं पानी पीने या नहाने आदिके लिए पानी में उतारना हो तो ऐसे ही स्थान पर उतारें जहां समतल-चौडे घाट बने हों, दलदल न हो, जीव-जंतु (कछुआ, नाका आदि) का भय न हो। जबतक पशु पानी पिएं या नहाएँ तब तक गोपाल सावधानीसे उनकी रक्षा करता रहे। चोर, व्याघ्र, नाके आदिसे पकडे हुए पशु तथा बीमार और बुढापेके कारण मरे हुए पशुकी सूचना तत्काल देनी चाहिए, नहीं तो गोपालको नष्ट हुए पशुका पूरा मूल्य अदा करना होगा।

सौ गायोंके गोल पीछे चार सांड रखने चाहिए। जंगलों में गायोंके रहने और चरनेके लिए नियमित स्थानोंकी व्यवस्था, उनके चरनेके सुभीते आदिका प्रबंध उनके गोलकी संख्या और सुरक्षाका पूर्ण ध्यान रखते हुए करना चाहिए।

इस सब नियमोंका ठीक ढंगसे पालन होता है या नहीं, इसका निरीक्षण करनेके लिए राज्यकी ओरसे एक उच्च अधिकारी नियुक्त किया जाता था, जिसकी पदवी थी 'गोऽध्यक्ष'।

संस्कृत-पाठ-माला

[२४ भाग]

(संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेका सुगम उपाय)

प्रतिदिन एक घण्टा अध्ययन करनेसे एक वर्षमें आप स्वयं रामायण-महाभारत समझ सकते हैं।

२४ भागोंका मूल्य	१२)	१।)
प्रत्येक भागका मूल्य	॥)	≈)

संस्कृत पुस्तकें

१ कुमुदिनीचंद्र	४)	॥≈)
२ सूक्ति-सुधा	।≈)	-)
३ सुबोध-संस्कृत-ज्ञानम्	१।)	।)
४ सुबोध संस्कृत व्याकरण		
भाग १ और २, प्रत्येक भाग	॥)	≈)
५ साहित्य सुधा (पं.मेधाव्रतजी) भा.१	१।)	।)

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, पोस्ट- 'स्वाध्याय मण्डल (पारडी)' पारडी, [जि. सूरत]

कुछ पास-पास : कुछ दूर-दूर

(लेखक— श्री डा. राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी)

बाबू··· मुझसे उम्रमें भी बडे हैं और बुद्धिमें भी। वह मेरे बडे भाई साहबके साथी हैं। अतः मेरे भी भाई साहब होनेके कारण रिश्तेमें बडे हैं। एक दिनकी बात, वह पानकी दूकान पर खडे हुए पान खानेका आयोजन कर रहे थे। साइकिल पर सवार मैं भी उसी दूकान पर पान खानेकी योजना बनाता हुआ अपनी धुनमें चला आ रहा था। मैं अपनी योजनामें इस तरह डूबा हुआ था कि जब तक पानकी दूकानके सामने साइकिल रोक कर उतर न पडा, तब तक भाई साहबको देख ही न सका। यदि साइकिलसे उतरनेके पहले कहीं उन्हें देख लेता, तो साइकिलसे उतरता ही नहीं कमसे कम उस दूकानके सामने तो नहीं। अगर तलब ज्यादा जोर करती भी, तो शायद किसी अन्य दूकानकी ओर बढ जाता।

भाई साहबको देखते ही मैं कुछ सहम-सा गया। इस-लिए नहीं कि पानकी दूकान पर पान खाना मेरी या भाई साहबकी नजरोंमें कोई बुरा काम है, बल्कि इसलिए कि अब पानवालेसे क्या कहूँ ? भाई साहबके सामने पैसे देकर पान खाऊँ अथवा चुपचाप खडा रहूँ और भाई साहबका इन्तजार करूँ– उनके जाने अथवा बोलनेका। आप विश्वास करें, यह समस्त अन्तर्द्वन्द्व अधिकसे अधिक आधे मिनटमें समाप्त हो गया और अपना भाईचारा बताते हुए मैं कह बैठा– "भाई साहब, मैं भी पान खाऊँगा।"

'हाँ, अवश्य' कह कर भाई साहबने मुझे पान खिलाया और हम दोनों अपनी अपनी राह चले गये। बात गई-आई हुई।

उक्त घटनाके लगभग एक सप्ताह बाद मैं अपने एक मित्रके साथ सडक पर खडा हुआ कुल्फी खा रहा था और सोच रहा था कि हम लोग यानी भारतवासी चटोरे हो गये हैं। हर जगह खाने-पीनेकी चीजें मिलती हैं– सडकके किनारे दुकानोंमें, खोमचों पर, होटलोंमें। हमारे देशवासी दिन पर दिन घरका भोजन छोडकर बाजारमें पत्ते या प्लेट चाटनेके आदी बनते जा रहे हैं। होटलमें बैठकर खाना-पीना मानों, सभ्यताका आवश्यक अंग बन गया है। ठीक इसी समय हमारे पूर्व परिचित भाई साहब उधरसे आ निकले। 'आइए भाई-साहब' कह कर मैंने उनका स्वागत किया। भाई साहबने हाँ या ना करनेके स्थान पर मुझे एक व्याख्यान दे डाला। व्याख्यानका सारांश यह था कि जब कोई अन्य व्यक्ति कोई चीज खा रहा हो, तब पहले तो उधर की ओर जाना ही नहीं चाहिए और यदि संयोगवश उधरकी ओर जा ही निकलो, तो उस खाने-पीनेमें तो कदापि सम्मिलित होना ही नहीं चाहिए।

पहले तो मैंने यह समझा था कि भाई साहब मेरे मनकी बात-चटोरेपनकी बातका समर्थन कर रहे थे, परन्तु उनके प्रवचनका उपहार एक काँटा लेकर आया था और अपनी कसक छोड कर चला गया। मैं सोचने लगा कि मैंने उस दिन इनसे पान क्यों माँगा मुझे पानवालेसे पान माँगना था और उसे पैसे दे देने थे। भाई साहब रोक-टोक करते तब देखा जाता। परिचय की प्रगाढताके नशेने मुझे अपने कर्तव्य-का विस्मरण करा दिया था और इसीका फल है कि भाई साहबने अवसर पाते ही मुझे उलाहना दे डाला अथवा सचेत कर दिया। 'तकल्लुफ शराफत की निशानी है' वाली बात मैं भूल गया था। इसी कारण एक आनेके पानने यह स्थिति उत्पन्न कर दी थी। जो भी हो, मुझे बात खटक गई और अपने किए पर मुझे पश्चाताप भी हुआ।

हमारे एक परम हितैषी मित्र हैं– श्री अग्रवाल। वैसे तो वह मेरी अनेक पुस्तकोंके प्रकाशक हैं, परन्तु अपने आपको मेरे चाचाजी, मामाजी, बडे साहब आदि गुरुजनोंका मित्र एवं सखा भी बताते हैं। फल यह हुआ कि उनके प्रति मेरे सम्बन्धोंमें काफी बेतकल्लुफी आ गई।

एक दिनकी बात है ! मैं उनकी दुकान पर बैठा हुआ उनसे बातें कर रहा था इतनेमें ही उनके एक मित्र आ गये। वह मुझसे बातें करना छोडकर एकदम उठ कर उनके साथ चल दिये। चलते समय अपने एक नौकरसे कहते गये कि चौबेजीको पान खिला देना। उनका यह व्यवहार मुझे रुचि कर नहीं लगा और मैं चुपचाप वहाँसे चला गया, यद्यपि उनके नौकरोंने आग्रहपूर्वक मुझे रोकना चाहा था और यह इच्छा प्रकट की थी कि मैं पान खाकर ही जाऊँ।

मैं बराबर सोच रहा था कि लाला साहबने क्या मेरा अपमान किया है अथवा मेरी उपेक्षा की है ? इन्हें पहले तो यकायक इस तरह उठना नहीं चाहिए था और फिर पान खिलानेका काम इस प्रकार केवल नौकरोंके जिम्मे नहीं कर देना था। विश्लेषण और तर्क पर आधारित निर्णयका निष्कर्ष यह था कि चूँकि मैं किसी प्रकार उनका नुकसान नहीं कर सकता हूँ, इसलिए वह मेरी उपेक्षा करके अपने एक ऐसे मित्रके साथ चले गये थे, जो किसी रूपसे नुकसान पहुँचा सकते थे अथवा आर्थिक लाभकी दृष्टिसे उनके लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते थे।

मैं नहीं कह सकता कि मित्रके व्यवहारने मेरे हीनत्वको ऊपर उभाड दिया था अथवा मेरे आत्मसम्मान पर आघात किया था। इतना सुनिश्चित है कि मेरे अहं पर चोट पहुँची थी और अपने मित्रके प्रति मेरी प्रेम-भावनामें खटाईका अंश पहुँच गया था।

उपर्युक्त दोनों घटनाओंका विश्लेषण इस प्रकार है। प्रथम घटनाके अन्तर्गत मुझे पश्चाताप एवं क्षोभका सामना करना पडा, क्योंकि मैंने परिचयकी प्रगाढता प्रदर्शित करनेका प्रयास किया था। दूसरी घटनामें मेरे मित्र परिचयकी प्रगाढताके कारण शिष्टताकी सामान्य सीमाओंका अतिक्रमण कर गये थे, इस कारण मेरे मनमें क्षोभके भाव अंकुरित हुए थे। सारांश यह है कि दोनों ही अवसरों पर क्षोभके मूलमें हमको परिचयकी अतिशयताके कारण शिष्टताके सामान्य नियमोंके विस्मरणके दर्शन होते हैं।

इस सम्बन्धमें मुझे अपने छात्रजीवनसे सम्बन्धित एक बहुत पुरानी घटनाका स्मरण हो आया है। हमारे एक मास्टर साहब पडौसमें रहा करते थे। उनकी मेरे ऊपर बहुत कृपा थी। मैं उनके घर भी प्रायः चला जाया करता था। सारांश यह है कि मैं उनके और उनके परिवारके साथ बहुत अधिक घुल-मिल गया था। एक दिन बातें करते हुए मैंने श्री, जी आदि सम्मान सूचक शब्दोंका प्रयोग किये बिना ही उनके केवल नाम मात्रका उच्चारण कर दिया। मास्टर साहबने अपने कमरेमें ही मेरी बात सुन ली। वह तुरन्त उठकर आये और उन्होंने मेरा कान खींचते हुए कहा, "क्यों-मच फैमीलियरिटी ब्रीड्स कन्टैम्प्ट" (अधिक मेलजोल तिरस्कार उत्पन्न करता है) मैंने अपना कान पकडा और व्यवहारमें सदा सावधान रहनेकी प्रतिज्ञा की। मैं अपने कान पकडनेकी बात भूल गया था। इसी कारण उपर्युक्त भाई साहबके सामने मुझे अपनी आँख नीची करनी पडी थी।

हमारे एक चाचाजी थे। वह हम लोगोंके साथ खूब खेलते-हँसते थे, परन्तु व्यवहारमें जरा-सी भी असावधानी होते ही यह कह कर टोक दिया करते थे- यह मत भूलो कि मैं तुम्हारा चाचा हूँ।

वस्तु स्थिति यह है कि परिचय होते ही हम लोग आगे बढना शुरू कर देते हैं और यह सर्वथा स्वभाविक है, परन्तु बुद्धिमानी इसीमें है कि आगे बढते हुए हम यह भी ध्यान रखें कि हमारे आगे बढनेकी सीमा कहाँ समाप्त होती है और हमें कहाँ रुक जाना चाहिए। आगे बढनेकी सीमाका ध्यान न रखनेके फलस्वरूप हमारे जीवनमें अनेक विषमताएँ उत्पन्न होती रहती हैं। भावावेशमें आकर हम बहुतसे व्यक्तियोंपर अपना अधिकार समझने लग जाते हैं और इस अपनत्वमें यह भूल जाते हैं कि दो व्यक्तियोंका भावावेश कभी समान नहीं होता है तथा भावनाके साथ बुद्धितत्व सदैव संलग्न रहता है। भावुकता संश्लेषणात्मक होती है और बौद्धिकता विश्लेषणात्मक। इन दोनोंका पारस्परिक अनुपात अथवा दोनोंके संयोगका अनुपात, स्थितिपरक एवं अवसरपरक होनेके अतिरिक्त व्यक्ति विशेषके विकास-स्तर पर भी अवलम्बित होता है। इस ओर ध्यान रखने पर हम व्यवहारकी उस स्थितिको प्राप्त हो जाते हैं जिसे शिष्टताकी संहितामें अनधिकार चेष्टा कहा जाता है। अपने मित्रके पुत्रके साथ अगर हम भलाई करते हैं, तो हम अपनी व्यवहार-कुशलताका परिचय देते हैं, क्योंकि इसके कारण हमारे मित्र हमसे प्रसन्न होते हैं। हम उसको अपना भतीजा समझ कर यदि डाटने-फटकारने लगते हैं, तो यह हमारी अनधिकार चेष्टा है, क्योंकि हम मित्रताकी सीमाका अतिक्रमण करके आतृत्वके क्षेत्रमें पदार्पण करना चाहते हैं।

यदि हम भाईके स्वतन्त्र व्यक्तित्वकी उपेक्षा करके आगे बढना चाहते हैं, तो यह भी हमारे भ्रातृत्वके क्षेत्रमें अनधिकार चेष्टा कही जाएगी। सिद्धान्त वही है कि परिचयकी अतिशयता वैमनस्यको जन्म देती है। अतः लोक-व्यवहारका यह सूत्र हमारे हाथ लगता है कि पास जाते समय दूर बने रहनेका ध्यान रखनेवाले व्यक्तिको कभी पछताना नहीं पडता है। आगे बढते समय हमें रुकनेका ध्यान रखना चाहिए। निकटता इतनी न हो जाए कि बीचका अन्तर ही समाप्त हो जाए। अन्तरकी डोरीसे बंधी रहनेवाली निकटता ही हितकारिणी होती है। (नयाजीवनसे साभार)

• • •

दयानन्द षोडश-दर्शन कला

(संकलनकर्ता— श्री गङ्गाप्रसाद वानप्रस्थी हल्द्वानी, नैनीताल)

१ ब्रह्मचर्य

(क) सरदार विक्रमसिंहकी घोडा गाडीके पिछले पहिये पकडकर जालंधरमें रोका।

(ख) ठाकुर गोपालसिंहजीने उनसे पूछा कि माघ मासकी सर्दीमें आपको गङ्गाके किनारे बालूमें भी ठंड क्यों नहीं लगती। स्वामीजी बोले 'ब्रह्मचर्य और योगाभ्यासके कारण' (पुनः प्रश्न) क्या प्रमाण है ? स्वामीजीने मौखिक उत्तर न देकर अपने हाथोंके अंगूठे अपने घुटनों पर रखकर ऐसे जोर से दबाये कि उनके सारे शरीरमें पसीना हो गया।

(ग) रावकरणसिंह रईसने बरौलीके कर्णवासमें तलवार का वार किया, परन्तु वे ऐसे घबरा गये कि तलवार खिंची हुई थी और स्वयं स्तब्ध दशामें थे।

(घ) उपर्युक्त रावकरनसिंहने तीन चार कई-कई गुण्डोंके गिरोह स्वामीजीके वधके लिये भेजे, जो स्वामीजीकी फटकार मात्रसे तलवारें छोडकर गिरते पडते भाग गये।

(ङ) स्वामीजी करनवासमें घोर शीतकालमें भी कपडे नहीं ओढते थे। ठाकुर कैथलसिंह उनको बारम्बार कम्बल रात्रिमें उढाते थे परन्तु जब स्वामीजी करवट बदलते और कम्बल गिर जाता तो फिर स्वयं नहीं ओढते थे।

(च) अनूप शहरमें गङ्गा किनारे केवल कौपीन धारी अन्य वस्त्र हीन स्वामीजीको देखकर वहाँके एक मुसलमान रईसके पूछने पर स्वामीजीने उत्तर दिया कि "ब्रह्मचर्य ही शीतोष्ण आदि क्लेशोंके लिये रामबाण है।"

२ सत्यकी जिज्ञासा

शिवलिंग पर चढे चावलोंको चूहेको खाता देखकर "सच्चे शिवको जाननेकी" तथा बहन और चाचाके निधन-से "मृत्युसे छुटकारा पानेकी" जिज्ञासा उत्पन्न हुई तो घरबार, माता पिता, सुख भोग आदिको तिलांजलि दे घने जंगलों, अगम्य पहाडों आदिमें भटकते फिरे। अन्त-तोगत्वा गुरुवर, विरजानन्दसे जिज्ञासा पूर्ति करके ही दम किया।

३ गुरु-भक्ति

(क) गुरुवरके आदेशसे दुष्प्राप्य हस्तलिखित पुस्तकों-को यमुनामें बहा दिया।

(ख) गुरुको मारको हितकर माना तथा उस मारके चिह्नको गुरुका प्रसाद ही बताया।

(ग) नित्य प्रातः यमुनासे गुरूजीके लिये जल लाना।

४ निर्लोभता

एक बार उदयपुर नरेशने स्वामीजीसे कहा कि आपको लाखों रुपयेकी जायदादवाले मठका महन्त बना दूंगा। यदि आप मूर्तिपूजाका खण्डन न करें। स्वामीजी महाराजने इस प्रलोभन पर लात मार दी, परन्तु सत्यको नहीं छोडा।

५ निर्भीकता

बरेलीमें अंग्रेज कमिश्नरकी हिदायतके विरुद्ध गरजते हुए कहा कि "लोग कहते हैं कि मैं खण्डन न करूं कमि-श्नर नाराज होंगे, परन्तु चाहे चक्रवर्ती सम्राट् भी अप्र-सन्न हों मैं तो सत्य ही कहूँगा।"

६ उदारता

(क) अनूप शहरमें एक व्यक्तिने विष दिया जब घातकको पकडकर स्वामीजीके सामने लाया गया तो उन्होंने यह कह कर छुडा दिया 'मैं मनुष्योंको बन्दी बनाने नहीं आया किंतु छुडाने आया हूँ।'

(ख) घातक विष देनेवाले जगन्नाथ रसोइयाको न केवल क्षमा ही कर दिया, वरन् धन देकर भगा दिया और अपने मुखसे कभी उसका नाम प्रकट नहीं किया।

७ देश-भक्ति

दिल्ली दरबारके के समान अनेक मतोंके नेताओंसे मिल-कर देशोद्धारकी योजना पर विचार किया।

८ स्वदेशीयता प्रेम

स्वामीजीने बताया कि जैसे यूरोपियन अपने देशकी बनी वस्तुको ही प्रेम करते हैं, वैसे ही भारतीयोंको अपने देशकी वस्तुओंका व्यवहार करना योग्य है।

९ नम्रता

श्री केशवचन्द्र सेनके कहने पर स्वामीजीने केवल कौपीन-के स्थान पर पूरे वस्त्र पहनना आरम्भ कर दिया। वे अपनी कमी व गलतीको बताने पर प्रसन्न होकर नम्रतापूर्वक कृतज्ञता प्रकट करते थे।

१० विद्या-प्रेम

आर्यसमाजका एक यह भी नियम बनाया कि " अविद्या-का नाश और विद्याकी वृद्धि करनी चाहिये।

११ मातृ-शक्तिका मान

स्वामीजीने उदयपुरमें मार्गमें जाते हुए एक अबोध बालिकाको सर झुकाया। लोगोंके पूछने पर उत्तर दिया ' मैंने मातृ-शक्तिका मान किया है।'

१२ न्यायप्रियता

स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाशमें लिखा कि प्राण देकर भी अन्यायकारी बलवान्का नाश तथा न्यायकारी निर्बलकी रक्षा व सहायता करना ही मनुष्य धर्म है।

१३ समानताका व्यवहार

जैसे विदेशी मत-मतान्तरोंकी असत्य बातोंका खण्डन किया वैसे ही स्वदेशी मतोंकी असत्य बातोंको कथन कर निष्पक्षताका परिचय दिया।

१४ सत्य-प्रियता

एक यह नियम ही आर्यसमाजका बनाया कि " सत्यको ग्रहण करने और असत्यको छोडनेमें सर्वदा उद्यत रहना चाहिये। " (जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहलाता है) सत्या० प्र० भूमिका।

१५ आस्तिकता

' सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्यासे जाने जाते हैं उनका आदि मूल परमेश्वर है ' यह आर्यसमाजका प्रथम नियम बनाया तथा दूसरे नियममें ईश्वरके स्वरूपका उल्लेख करके लिखा कि उसीकी उपासना करनी योग्य है।

१६ समाजसेवा

इस सम्बन्धमें दो नियम आर्यसमाजके बनाये। एक यह कि ' प्रत्येकको अपनी ही उन्नतिसे सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नतिमें अपनी समझनी चाहिये। ' दूसरा यह कि ' सब मनुष्योंको सामाजिक सर्व हितकारी नियम पालनेमें परतन्त्र रहना चाहिये।'

— प्रेषक— सुदर्शन विद्यावाचस्पति

टी. बी. (तपेदिक) की

अचूक चिकित्सा घर बैठे करें। ५८ वर्षकी खोज अनुभव एवं परीक्षणका परिणाम, ' यक्ष्मचिकित्सा ' मूल्य ५.०० सेनेटोरियमका परिणाम ८०%। लेखक— सरकार द्वारा अनेकबार पुरस्कृत एवं सम्मानित स्व. डा. कुन्दनलालजी अग्निहोत्री एम. डी (लंदन) मेडिकल आफिसर टी. बी. सेनेटोरियम।

लेखककी कुछ अन्य पुस्तकें

(२) आयुर्वेदिक प्राकृतिक चिकित्सा-आमुख लेखक— स्व. श्री मावलंकरजी, अध्यक्ष लोकसभा। हर रोगकी सरल अचूक चिकित्सा घर पर ही स्वयं करें। मू. ४.००

(३) आरोग्यशास्त्र— सर्वदा स्वस्थ रहनेके वैज्ञानिक अनुभूत नियम बतानेवाली अपने विषयकी एकमात्र पुस्तक। उपहारमें देनेके लिए अनुपम भेंट। मू. २.००

(उक्त पुस्तकें शिक्षा विभाग एवं पंचायतराज द्वारा स्वीकृत और सरकार द्वारा पुरस्कृत हैं।)

(४) राष्ट्र उत्थानकी कुंजी— गऊ प्रदत्त पदार्थों द्वारा अनेक रोगोंकी चिकित्सा एवं गऊकी उपयोगिता बतानेवाली अनूठी पुस्तक। मू. ००.५० डाक व्यय सबका पृथक्

स्वास्थ्य भंडार, १६ केला बाग, बरेली,
ब्रांच, स्वास्थ्य भंडार, 7A/३ लाजपतनगर, लखनऊ

संसारपर विजय कौन प्राप्त कर सकता है ?

[लेखक— श्री भास्करानन्द शास्त्री, सिद्धान्त-वाचस्पति, प्रभाकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी (गुजरात)]

[गताङ्कसे आगे]

सम्यक् चेन्द्रियनिग्रहात्

ऋषिने दूसरा उपदेश युधिष्ठिरको 'सम्यक् चेन्द्रिय-निग्रहात्' का दिया कि, हे युधिष्ठिर ! इन्द्रियोंको सम्यक् रूपसे निग्रह करने अर्थात् अपने वशमें करनेसे मनुष्य विश्वविजयी बनता है। अब ऋषिके इस दूसरे उपदेश पर विचार करने लगा हूँ। मनुष्यको ईश्वरने वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा ये पाँच कर्मेन्द्रिय तथा नासिका, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ प्रदान कर रखी हैं। इन सब इन्द्रियोंके द्वारा हम अच्छा काम भी कर सकते हैं और बुरा काम भी। इनमें ज्ञानेन्द्रियोंकी विशेष प्रधानता है बनिस्बत कर्मेन्द्रियोंके।

मन ज्ञानतन्तुओंके द्वारा इन इन्द्रियोंको प्रेरणा करता है उसकी प्रेरणाके अनुसार इनमेंसे कोई अपने विषयसे संबंध कर उसकी विशेषताकी सूचना उसी मार्गसे मनको देता है और मनके द्वारा आत्माको उस विषयका ज्ञान हो जाता है। आत्मा जब कभी किसी बाहरके विषयको जाननेकी इच्छा करता है तब वह अपनी इच्छाशक्तिके बलसे अपने मनके अन्दर उस विषयकी ओर बहनेवाली विचारतरङ्ग उत्पन्न करता है। वह विचारतरङ्ग ज्ञानतन्तुओंमेंसे बहती हुई उस इन्द्रियके केन्द्रबिन्दुसे जा टकराती है, जिसका यह विषय है। विषयसे सम्बन्ध होते ही आत्माके प्रेरणाके आधार पर विषयके स्वरूपको साथ लिये हुये वह तरङ्ग उसी मार्गसे उलटी अन्दर लौट जाती है और आत्मा उस विषयके जाननेमें समर्थ हो जाती है।

इन इन्द्रियोंमेंसे पहली इन्द्रिय 'नासिका' है। यदि आत्माने किसी पुष्पकी सुगन्धिको जाननेकी इच्छा की है तो उसकी वह कामना अपने मनकी गंगाके विचार प्रवाहका स्रोत नासिकाकी ओर बहा देगी और नासिकाकी पुष्पगन्धके साथ सम्बन्ध होते ही उस गन्धकी सूचना पूर्वोक्त विधिके अनुसार आत्माके पास पहुँच जायेगी। घ्राण इन्द्रियका स्थान नासिकाका अग्रभाग है। इस इन्द्रियकी रचना विशुद्ध पृथ्वी तत्वसे हुई है।

दूसरी इन्द्रिय रसना है। रसनाको आज्ञा मिलने पर यह भी किसी वस्तुके रसको जान कर उसकी सूचना अन्दर भेजना प्रारम्भ कर देती है। यहाँ भी वह वस्तु ही इन्द्रियके पास आता है, जिसके रसको जाननेकी इच्छा आत्माने की है। फिर रसनाका सम्बन्ध उस वस्तुके साथ और उसके द्वारा उस रसके साथ होता है। इस इन्द्रियकी रचना जलतत्वसे हुई है। इसका स्थान जिह्वाका अग्रभाग है।

तीसरी इन्द्रिय चक्षु है। किसी वस्तुके रूप और आकृतिकी सूचना देना इस इन्द्रियका काम है। यह अपनी किरणोंको रूप और रूपवाले द्रव्यके पास भेजता है। इसकी ये किरणें भी बाहरी प्रकाशकी सहायतासे, चाहे वह सूर्यका हो चाहे दीपकका, वस्तुको ग्रहण करती है। यह इंद्रिय रूप और रूपवाले द्रव्य दोनोंको जान लेती है। इसकी रचना अग्नितत्वसे हुई है, इसलिये यह अग्निके प्रधानगुण रूपको ही ग्रहण करता है, और किसी गुणको नहीं। इस इंद्रियका स्थान चक्षुकी कनीनिका तारा है।

चौथी इंद्रिय त्वक् है। यह त्वक् ठण्डे, गर्म आदि स्पर्शकी सूचना देता है। त्वचा त्वक् इंद्रियके रहनेका स्थान है। इस इंद्रियकी रचना वायुतत्वसे हुई है।

पाँचवीं श्रोत्र इंद्रिय है। कानोंका नाम श्रोत्र है यह शब्दकी सूचना देता है। शब्द आकाशका गुण है, इस इंद्रियकी रचना आकाशतत्वसे हुई है।

मन भी एक स्वतन्त्र इन्द्रिय ही है जो एक समयमें एक काम करता है दूसरा नहीं। प्रयत्नपूर्वक इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और पाँचों कर्मेन्द्रियों तथा मनको वशमें करनेवाला मनुष्य जितेन्द्रिय बनता है। और जितेन्द्रिय ही विश्व पर

विजय प्राप्त कर सकता है। ज्ञानेन्द्रियोंके सम्बन्धमें एक कविने ठीक ही कहा है। यथा—

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्ग-
मीना हता पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते
यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥

हिरण, हाथी, पतङ्ग, भौंरा और मछली ये पाँचों प्राणी एक एक इंद्रियके वशीभूत होकर मारे जाते हैं। जिनकी पाँचों अथवा सम्पूर्ण इंद्रियाँ अपने अपने विषयोंकी ओर बेतहाशा भागती चली जा रही हैं उस व्यक्तिकी कैसी शोचनीय अवस्था होगी, इसको मैं नहीं बता सकता। उपरोक्त पाँचों प्राणी किस प्रकार एक एक इंद्रियके विषयोंके वशीभूत होकर मारे जाते हैं उनको भी यहाँ बता देना उचित ही होगा। यथा—

जिस समय हिरणका शिकार करनेवाला शिकारी हिरणका शिकार करनेके लिये जंगलमें जाता है, और वहाँ पहुँचता है जहाँ हिरण रहता है। वहाँ उसके कुछ फासले पर जाल बिछा देता है और जालके पीछेकी ओर बैठकर किसी ओटमें होकर मधुर ध्वनिसे बंशीको बजाता है। बंशीकी मधुर ध्वनिको सुनकर कर्ण इंद्रियके वशीभूत हुआ हिरण चौकडी भरता, छलांग मारता हुआ उस ध्वनिकी ओर आता है और आकर जालमें फँस जाता है। शिकारी उसे पकड लेता है और वह मारा जाता है।

दूसरा प्राणी हाथी है। यह हाथी नैपाल, बंगालके सुन्दर बन, ब्रह्मदेश, लंका और अफ्रीकाके जंगलोंमें विशेष रूपसे पाया जाता है। हाथीको पकडनेवाला शिकारी जब उस जंगलमें पहुँचता है जहाँ हाथी रहता है। घासके सुन्दर मैदानमें जहां मुलायम घास उगी होती है, उस उगे हुये घासके सुन्दर मैदानमें एक बहुत बडा और गहरा गड्डा खोद देता है और उसके ऊपर कपडा फैलाकर, कपडेके ऊपर सब ओरसे कीलें ठोक कर कि वह गढेके ऊपर तना रह सके, फिर उस कपडेके ऊपर बनावटी मुलायम हरे हरे घासका मैदानसा बना देता है। वह इस प्रकारसे कलात्मक ढंगसे बनाता है कि कोई सहसा अनुमान नहीं लगा सकता है कि नीचे गहरा गढा है। हाथी अपनी त्वचा इन्द्रियमें अधिक आसक्त होता है, इस इन्द्रियकी खुजली मिटानेके लिये घास के मैदानमें जाकर मुलायम घास पर अपने शरीरको खूब रगडता है। अतः इधर उधर घूमते हुये उस स्थान पर पहुंचता है, जहां बनावटी घासका बना हुआ मैदान होता है। त्वचा इन्द्रियके वशीभूत हुआ हुआ उसी पर लेटनेके लिये वेगसे बढता है। सहसा उसका अगला पैर गढेके ऊपर बनाये बनावटी घास पर पडता है और धडामसे उस गहरे गड्ढेमें गिर पडता है। उसके गिरनेकी आवाज सुनते ही शिकारी उसके पास पहुंचता है उसे अनेक प्रकारसे पीडित कर बन्धनमें जकड लेता है अथवा मार डालता है। इस प्रकार हाथी अपनी त्वक् इन्द्रियके वशीभूत होकर शिकारी का शिकार बनता है।

तीसरा प्राणी पतङ्ग (पतंगा) है यह अपने नेत्र इन्द्रियके वशमें होकर शोचनीय अवस्थाको प्राप्त होता है। अक्सर बरसातके दिनोंमें जलते हुये दीपकके प्रकाशको देखकर दूरसे उडता हुआ आकर उस पर गिर कर जल भुनकर मर जाता है।

चौथा प्राणी होता है भौंरा। यह अपनी नासिका इन्द्रियके वशीभूत होकर मरता है। यथा- तालाब (जलाशय) में जहां कमल खिला हुआ होता है, प्रातःकाल ही उडता और भनभनाता हुआ वहां पहुंच जाता है। खिले हुये सुन्दर कमल पर बैठ कर उसकी भीनी भीनी सुगन्धिको नासिकासे लेने लगता है। वह भौंरा उस सुगन्धिको लेनेमें इतना मस्त होजाता है कि अपना सारा का सारा दिन उसी फूल पर बैठे बैठे समाप्त कर देता है। कमलका फूल सूर्योदय होनेपर ही खिलता है और सूर्यास्त होनेपर बन्द हो जाता है ऐसा उसका स्वभाव अथवा नियम है। जैसे ही सूर्यास्त होता है कमलका फूल बन्द हो जाता है। इसी बीचमें एक हाथी उसी जलाशयमें पहुँचता है, स्व शरीरसे जलका मंथन करता हुआ अपनी सूँडसे उस कमलके फूलको डंठलके सहित उखाडकर अपने पेटमें डाल लेता है उसी फूलके अन्दर मस्त बैठा हुआ भौंरा बेमौत मारा जाता है। इसी बातको एक कविने निम्न प्रकार सुन्दर रूपसे वर्णन किया है यथा—

रात्रीर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे,
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥

पाँचवां प्राणी मछली है। यह अपनी रसना (जिह्वा) इन्द्रियके वशमें होकर मारी जाती है। मछली मारनेवाला एक लोहेके काँटेमें मछलीके खानेकी कोई चीज चारा आदि गूँथकर उस तालाबमें डाल देता है, जहाँ मछलियाँ रहती हैं। उस काँटेके साथ एक बहुत लम्बा धागा बँधा हुआ होता है। उसी धागेमें एक लकडी भी बँधी हुई होती है जो पानीके ऊपर तैरती रहती है। मछली उस चारेको खानेके लिये दौडी हुई आती है और बिना ही सोचे समझे खाने

लगती है, काँटा उसके मुखमें फँस जाता है, वह उसे निकालनेका प्रयत्न करती है लेकिन उसका प्रयत्न विफल जाता है। लकडीके पानीके भीतर जानेसे मछली मारनेवालेको पता लग जाता है कि मछली फँस गई है। उस समय वह उसे डोरीके साथ बाहर खींच लेता है अथवा पानीके बाहर फेंक देता है। मछलीके पानीके बाहर आजाने पर उसे पकड लेता है, और घर ले जाकर उसे मारकर अग्नि द्वारा पकाकर खा लेता है। इस प्रकार मछली अपनी रसना इन्द्रियके वश हुई हुई मारी जाती है।

उपरोक्त उदाहरणोंसे यह सिद्ध होता है कि पाँच प्राणी अपने एक एक इन्द्रियके वशीभूत होनेसे मारे जाते हैं, ईश्वरने मनुष्यको ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय और मन प्रदान किया है अगर यह अपने इन इन्द्रियों और मनको स्वतन्त्र छोड दे तो उस मनुष्यकी कैसी दुर्गति होगी उसको कोई भी नहीं बता सकता है, इसलिये इन विषयोंकी ओर भागनेवाली इन्द्रियोंको प्रयत्नसे वशमें करना चाहिये। मनुजीने भी कहा है—

जितेन्द्रियो ही शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥
मनु०

महान् राजनीतिज्ञ मनीषी चाणक्यने भी अपने सूत्र ग्रन्थमें लिखा है यथा—

सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्य मूलमर्थः।
अर्थस्य मूलं राज्यम्। राजस्य मूलं इन्द्रियजयः।

जबतक भारतके लोग आर्यजन चरित्रवान, जितेन्द्रिय, इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले थे, वह १ अरब ९७ करोड २८ लाख वर्षोंतक अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती राज्यका उपभोग करते रहे। लेकिन आज हमारी और हमारे देशकी कितनी शोचनीय अवस्था है। हमारे व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय दोनों प्रकारके चरित्रोंका ह्रास ही हुआ है। और आज भी वह सिलसिला जारी है, इसका अन्त कहाँ जाकर होगा यह हम नहीं बता सकते। आज पढे लिखे शिक्षित तथा अशिक्षित सब चरित्रकी दृष्टिसे गिरते जा रहे हैं। इन्द्रियोंकी लोलुपता और घृणित आदतोंने हमारे समाजको खोखला कर दिया है।

हमारे इर्दगिर्दका सामाजिक वातावरण आजकल कामुक, अश्लील और उत्तेजक हो उठा है। सिनेमाके कुत्सितचित्रों, अश्लील कामोत्तेजक कथाकहानियों, नग्न तसवीरों, फिल्मी गन्दे गानोंकी कुछ ऐसी बाढसी आ गई है कि युवकोंकी बातें सुनकर लज्जा आती है। कामवासनाका ताण्डव आज सर्वत्र उत्तेजना फैला रहा है, उससे समाज, राष्ट्र और गृहस्थ जीवनकी जडें शिथिल होती जा रही हैं।

किसी राष्ट्रके समुत्थानके लिये चार चीजोंकी अत्यधिक आवश्यकता है। पहली चीज उस राष्ट्रके प्रत्येक नागरिकका स्वास्थ्य उत्तम और रोग रहित हो, वह धार्मिक एवं राष्ट्रीय सर्वोच्च भावनाओंसे भरा हुआ हो। दूसरी चीज आधुनिक सम्पूर्ण श्रेष्ठ वैज्ञानिक शक्तियोंसे युक्त हो। तीसरी चीज उस राष्ट्रके पास इतने बडे और महान् साधन हों कि अपने राष्ट्रकी आवाजको अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक विश्वके कोने कोनेमें पहुँचा सके। चौथी चीज उस राष्ट्रका कोष (खजाना) इतना भरपूर हो कि बगैर किसी भी राष्ट्रसे कर्ज लिये हुये अपनी सम्पूर्ण योजनाओंको पूर्ण कर सके। इन चारों चीजोंके होनेपर ही वह राष्ट्र विश्वके सम्पूर्ण राष्ट्रोंका सिरमौर बन सकता है। कभी उपरोक्त चारों चीजें हमारे राष्ट्रमें पूर्णताको प्राप्त थीं, लेकिन आज हमारे राष्ट्रकी वह स्थिति नहीं है। उन चारों चीजोंको हम तभी प्राप्त कर सकते हैं जब हम सब भारतीय नागरिक अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर सम्यक् रूपसे विजय प्राप्त कर सकेंगे। अतः 'सम्यक् चेन्द्रिय-निग्रहात्' ऋषिके इस दूसरे उपदेशको ग्रहण करके अपने सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अच्छी प्रकारसे अपने वशमें करें, तभी विश्वविजयी बन सकेंगे और अपने राष्ट्रको सम्पूर्ण संसारके राष्ट्रोंमें सर्वश्रेष्ठ बना सकेंगे।

सुखमार्ग

❀ मासिक-पत्र ❀

सुख सम्पति पानेके लिये सामाजिक, धार्मिक वैद्यक एवं स्वास्थ्य आदि सभी सामयिक समस्याओंसे ओत-प्रोत ४० वर्षोंसे भारतियोंमें जागरणका शंखनाद करनेवाले सचित्र 'सुखमार्ग' को अवश्य पढें। यह बडे-बडे विद्वानोंके लेख, लेकर हजारोंकी संख्यामें छपता है। विशेषांक भी निकलते हैं प्रश्न-उत्तर और लेख समाचार मुफ्त छपाता है।

वार्षिक मूल्य केवल १) नमूना, मुफ्त
पता- सुखमार्ग, केमीकल प्रेस, अलीगढ।

वैदिकसमाजवाद

(लेखक— श्री विजयकुमार विशालंकार, गुरुकुल कांगड़ी)

प्राचीन वैदिक आदर्शके अनुसार धर्मके दो रूप माने गये हैं अभ्युदय और निःश्रेयस। अभ्युदय लोकसम्बन्धी कर्तव्य तथा परलोकसम्बन्धी कर्तव्य निःश्रेयसकी ही प्राप्ति है। इन्हीं दो रूपोंकी व्याख्या ही सम्पूर्ण धार्मिक ग्रन्थोंका मुख्य विषय है। मनुस्मृति आदि शास्त्रोंमें इनकी प्राप्तिके लिये चार पुरुषार्थोंका विधान किया गया है- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। संसारकी क्षणभंगुरताको समझनेवाले विरक्त जन ही मोक्ष सुखका आनन्द भोगते हैं। शेष सभी धर्म, अर्थ और कामके सेवनको ही जीवनका उद्देश्य समझते हैं। उपनिषदोंमें निःश्रेयसको देवयान तथा अभ्युदयको पितृयान कहा गया है। किन्तु अभ्युदयके लिये धर्मानुकूल अर्थ और कामके सेवन पर बल दिया गया है। यद्यपि कौटिल्यने राज्यशासनमें अर्थको शेष दो से प्रमुख स्वीकार किया है, तथापि उसने भी धर्मके अविरोधी अर्थ-कामको ही उचित बताया है। वेदमें भी " तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" कहकर धर्मानुकूल भोगका ही निर्देश किया गया है।

वस्तुतः सांसारिक सुख सामाजिक और वैय्यक्तिक दोनों प्रकारके जीवनके सुखों पर ही अवलम्बित है। व्यक्तियोंके समूहका नाम ही समाज है, अतः बिना वैय्यक्तिक सुखके सामाजिक सुख सम्भव नहीं है; दूसरी तरफ समाजके उचित गठन न होने तथा समाजके हितकी भावना न होने पर भी सुखका अनुभव नहीं किया जा सकता। इस युगमें हम तीन प्रकारके वादोंको मुख्य रूपसे फैला हुआ पाते हैं- पूंजीवाद, साम्यवाद और समाजवाद। पूंजीवादमें व्यक्तिवादको प्रधानता दी गई है और इसलिये व्यक्तिको हर तरहकी स्वतन्त्रता है। परिणामतः पूंजीवादी पुरुष अपने जीवको सुखी बनानेके लिये समाजके हानि-लाभकी परवाह न करता हुआ मूलतः धन कमाना ही अपना उद्देश्य समझता है। साम्यवाद ठीक इसकी प्रतिक्रिया है। वह व्यक्तिकी उपेक्षा कर समाजके प्रति सर्वांशतः आत्मसमर्पणकी भावनाको मुख्य मानता है। व्यक्तिको जो कुछ करना है, वह समाजके लिये ही, न कि अपने लिये। सम्पूर्ण सम्पत्ति समाजकी है, व्यक्ति केवल उसका पुर्जा है। तीसरा वाद है समाजवाद; यही आजका हमारा विषय है। व्यक्ति और समाज दोनोंमेंसे किसीकी उपेक्षा न कर दोनोंकी प्रधानता ही समाजवादका उद्देश्य है। व्यक्ति और समाज परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। दोनों एक दूसरेके बिना टिक नहीं सकते। व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका उपयोग समाज कल्याणमें हो- यह समाजवादका मूलमंत्र है।

वेदमें समाजवादको ही दूसरे शब्दोंमें यज्ञमय जीवनका नाम दिया गया है। " यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु " धातुसे यज्ञ शब्द सिद्ध होता है। समाजमें रहकर दिव्यता लाभके लिये पिता-पुत्र, माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन तथा बन्धुबान्धवोंका पारस्परिक व्यवहार, परस्पर संगतिकर्म बनाये रखना यज्ञ है। इस सम्पत्तिको बनाये रखनेके लिये अपनी अपनी-सम्पत्ति, ज्ञान, शक्ति और धनका दान करना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रत्येक कार्यमें एक दूसरेका सहयोग प्राप्त करना चाहिये। कन्धेसे कन्धा मिलाकर चलनेकी आदत डालनी चाहिये। स्मरण रहे, वेदमें सभी प्रार्थना भरे वचनोंमें समाजवादकी भावनाका मूलस्वरूप निहित है। कहीं भी उपासक उपसनामें केवल अपने कल्याणकी याचना परमात्मासे नहीं करता, अपितु सारे समाजको सुखी रखनेके लिये परमात्माकी याद करता है। देखिये—

ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥
ओं शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः।

इस प्रकार सभी जगह 'माम्' की जगह 'नः' का प्रयोग इस बातका द्योतक है।

मनुष्यका प्रारम्भिक जीवन कुटुम्बसे प्रारम्भ होता है, अतः मनुष्यको समाजके लिये उपयुक्त बनानेमें कुटुम्बके भी कुछ दायित्व हैं। वेदमें इसका अच्छा समाधान मिलता है। माता-पिताका पुत्रके प्रति तथा पुत्रका माता-पिताके प्रति व्यवहार स्नेहसे परिपूर्ण हो—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।

अर्थात् पुत्र पिताका आज्ञाकारी तथा माताके साथ सद्-हृदयवाला होकर रहे। पति-पत्नी भी परस्पर प्रेमपूर्वक व्यवहार करें– 'जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्'

अर्थात् पत्नी पतिके लिये मधुर, शान्तियुक्त, सुखप्रद और कल्याणकारी वाणीको बोले। भाई बहन भी मिलजुलकर रहें–

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

अर्थात् भाई भाईसे और बहन बहनसे द्वेष न करे। सब एक दूसरेसे मिलकर समान गतिवाले होते हुए सुखप्रद तथा कल्याणकारी वचन बोलें।

वेदको छोड़कर अन्य उससे प्रभावित साहित्यमें भी यही गूँज मिलती है। समाजवादकी भावनाको जीवनमें चरितार्थ करनेका उपाय निम्न श्लोकमें बड़ी सुन्दर रीतिसे बताया है–

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

अर्थात् सांसारिक सुखकी दृष्टिसे व्यक्ति, कुटुम्ब, ग्राम तथा राष्ट्रको उत्तरोत्तर प्रधानता देनी चाहिये। परन्तु जहाँ आत्माके विनाशका आध्यात्मिक भावके क्षयका प्रश्न हो तो सम्पूर्ण संसारकी परवाह न करे। इस प्रकार आध्यात्मिक उन्नतिके अतिरिक्त सांसारिक जीवनमें व्यक्तिकी अपेक्षा समाजको प्रधानता दी गई है। यही वैदिक भावना है। यजुर्वेदमें कहा है—

असुर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

अर्थात् आत्माके विरुद्ध आचरण करनेवाले मनुष्य गहरे अन्धकारमें आच्छादित हुए प्रकाशरहित नामवाली योनियोंको प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त श्लोकमें भी यही ध्वनि मिलती है।

कुटुम्बके बाद बालक शिक्षणालयमें प्रवेश करता है। आजकी शिक्षापद्धति और वैदिक शिक्षापद्धतिमें महान् अन्तर है। आधुनिक शिक्षापद्धति व्यक्तिवादका पाठ पढ़ाती है। विद्यार्थी स्वार्थभावनासे प्रेरित होकर धनको ही सब सुखोंका मूल समझते हुए शिक्षणालयोंसे किताबी ज्ञानको पाकर ही अपने जीवनको धन्य समझते हैं; जब कि वैदिक शिक्षापद्धति आत्मसमर्पणका पाठ पढ़ाती है। विद्यार्थी गुरुके आगे अपना पूर्ण समर्पण कर देता है। विद्यार्थी और गुरु दोनों अकिञ्चन होकर शिक्षणालयमें निवास करते हैं। भोजनके समय विद्यार्थी पार्श्ववर्ती गांवोंसे भिक्षा माँगकर लाते हैं तथा उसे गुरुके पास रख देते हैं। गुरु सबको समान भाग भोजनका देकर अन्तमें स्वयं खाते हैं। यह है आदर्श समाजवाद। जिस व्यक्तिने माताके स्तनसे दूध पीते हुएसे लेकर शिक्षणालयमें भी युवावस्था पर्यन्त क्रियात्मक रूपसे समाजवादका पाठ पढ़ा है, वह ही आगेके अपने भावी जीवनमें समाजवादकी खुशहालीसे अपनेको अनुप्राणित करते हुए अन्य मानवोंके साथ एकता स्थापित कर सकता है।

इस कौटुम्बिक तथा शैक्षणालयिक जीवनके बाद व्यक्ति समाजमें प्रवेश करता है। उसका वस्तुतः सामाजिक जीवन अब प्रारम्भ होता है। अभीतक तो उसका समाज कुटुम्ब और शिक्षणालयके विद्यार्थियोंतक ही सीमित था, लेकिन अब वह राष्ट्रको पूरा एक समाज स्वीकार करने लगा है। उसका क्षेत्र विस्तृत हो चुका है। ऐसे समय यदि वह धनका ही समान वितरण समाजवादका मूल आधार समझ कर समाजमें जीवन यापन करे तो क्या यह सम्भव है कि आर्थिक दृष्टिसे अपने समान लोगोंके साथ वह संगतिकरण स्थापित कर सकेगा। कभी नहीं, यह एक स्वप्न है। कानून डन्डेके जोर पर मजबूर कर सकता है कि धनी आदमियोंका धन गरीब व्यक्तियोंमें वितरित कर दिया जाय, जिससे सब लोग समान होकर समाजवादकी स्थापना कर सकें। लेकिन अर्थमूलक समाजवाद स्थायी नहीं हो सकता। आदर्श समाजवाद तब होगा, जब प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिकवृत्ति अपनाता हुआ सहायता करना अपना कर्तव्य समझेगा। संसारमें सब व्यक्ति समान हैं। सबकी आत्माकी एकता की अनुभूति समाजवादकी आधारशिला है। ईशोपनिषद्में कहा भी है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥

अर्थात् जिस अवस्थामें विशेष ज्ञान प्राप्त योगीकी दृष्टिमें सम्पूर्ण चराचर जगत् परमात्मा ही हो जाते हैं, उस अवस्थामें एकत्वको देखनेवालेको कहाँ मोह और कहाँ शोक।

वैदिककालसे ही समाजमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामसे वर्णभेदकी परम्परा चली आ रही है। ज्ञान, बल और धन तीनों शक्तियाँ हैं। परन्तु धनकी अपेक्षा बल और बलकी अपेक्षा ज्ञानकी महत्ता अधिक स्वीकारकी गई है। यही कारण है कि हम समाजमें वैश्यकी अपेक्षा क्षत्रिय और क्षत्रियकी अपेक्षा ब्राह्मणको ज्यादा श्रेष्ठ मानते हैं। ऐसा होते हुए भी वेदका आदेश है—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सम्भ्रातरो
वावृधुः सौभगाय। युवा पिता स्वपा रुद्र एषां
सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥

अर्थात् सब मनुष्य आपसमें छोटे बडेका भेदभान न करके भाई–भाईकी तरह मिलकर सौभाग्यके लिये वृद्धि करें।

समाजके प्रत्येक व्यक्तिको भगवान्से प्रिय होनेकी कामना करते हुए प्रार्थना करनी चाहिये—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥

अर्थात् हे परमेश्वर! मुझको विद्वान् तथा क्षत्रिय राजाओंमें प्रिय बना। सबके देखते हुए चाहे वे शूद्र हों चाहे आर्य सबके बीचमें मुझे प्रिय बना दे, जिससे मिलूँ उसीका मैं प्रिय हो जाऊँ।

अन्यत्र कहा है—

दृते ह ꣳह मा मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

अर्थात् हे देव! मुझे सुदृढ करो। सभी प्राणी मुझे मित्रके समान देखें और मैं भी सब प्राणियोंको मित्र रूपसें देखूँ।

अस्तु। सारे प्राणी, सारा समाज एक है व्यवहारकी दृष्टिसे पितापुत्र, मातापिता, पतिपत्नीमें भेद अनिवार्य है तथापि सबकी आत्मा एक है। और यह आत्मा उस परमात्मासे मिलनेके लिये विकल है। तब क्यों न सभी पुरुषों को भाई तथा स्त्रियोंको बहन न समझें। सब बराबर हैं। प्रत्येकका प्रारम्भिक जीवन ब्रह्मचर्यमें रहते हुए निर्धनतामें व्यतीत होता है। गृहस्थाश्रममें ही सबको धन कमानेका अधिकार प्राप्त होता है। इसके बाद अन्तके दो वानप्रस्थ और संन्यासाश्रममें प्रत्येकको निर्धनताका जीवन व्यतीत करना पडता है। इस प्रकार जब प्रत्येक मनुष्यको अर्थ–काम शून्य जीवन व्यतीत करनेके लिये मजबूर होना पडे तो फिर मजदूरी और पूँजी Labour और Capital का झगडा किस प्रकार हो सकता है। हिंसा प्रतिहिंसाकी गुंजाइश ही खतम होजाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्मानुकूल अर्थ और कामका सेवन हम समाजी जीवोंका अभीष्ट है। सारे देशमें औद्योगिक क्रान्ति होनेसे अर्थके समान वितरण पर भी विशेष बल दिया जाना चाहिये। परन्तु उसका वितरण स्वेच्छासे करना चाहिये कानूनके जोरसे नहीं। वेदका कहना है—

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥

अर्थात् हे मनुष्यो! आप लोगोंकी एक ही पानीयशाला (प्याऊ) हो, जहाँसे सब समान रूपसे जल पी सकें। तुम लोगोंका परस्पर प्रेमसे एक साथ ही अन्नका भोजन हो, इसी कारण तुम लोगोंको मैं एक ही बन्धनमें बान्धता हूँ और उत्तम रीतिसे एक फलको प्राप्त करनेकी अभिलाषासे एकत्र होकर ही केन्द्रके चारों ओर अरोंके समान ज्ञानस्वरूप परमेश्वरकी उपासना करो।

आजका अर्थमूलक समाज वर्गसंघर्षको जन्म देता है। दूसरेकी सम्पत्ति बलात् कब्जा करनेमें संकोच नहीं करता। जब कि वैदिक समाजवाद धनलोभ त्याज्य बताता है। अपनी सम्पत्तिका भी अकेले भोग मत करो- दूसरोंको देकर यज्ञशेषके रूपमें उसका भोग करो। और पराई सम्पत्तिको तो कभी लालच भरी दृष्टिसे देखो भी नहीं। कहा तो है—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।

अन्यत्र कहा है—

केवलाघो भवति केवलादी।

वस्तुतः जबतक हम वैदिक समाजवादकी भावनाको स्वीकार न करके अर्थलिप्सासे अभिभूत होकर केवल पश्चिमी समाजवादका अन्धानुकरण करनेका प्रयत्न करते हैं, तब तक समाजवादका क्रियात्मक रूप हमारे सामने नहीं आ सकता। केवल मिथ्याचार या भ्रष्टाचार ही पनपेगा। और यह समाजवादकी भावना वैदिक आदर्शको समझते हुए त्यागमय भोगका जीवन करते हुए ही सम्भव है।

ओं शम्!!!